हिन्दू-धर्म के ज्ञान-मय क्रिया-पक्ष की शोध-पूर्ण प्रस्तुति

'कौल-कल्पतरु'

चण्डी

(सं॰ १९९९ वि॰-सन् १९४२ ई॰ से प्रकाशित)

श्रीगुरु-साधना

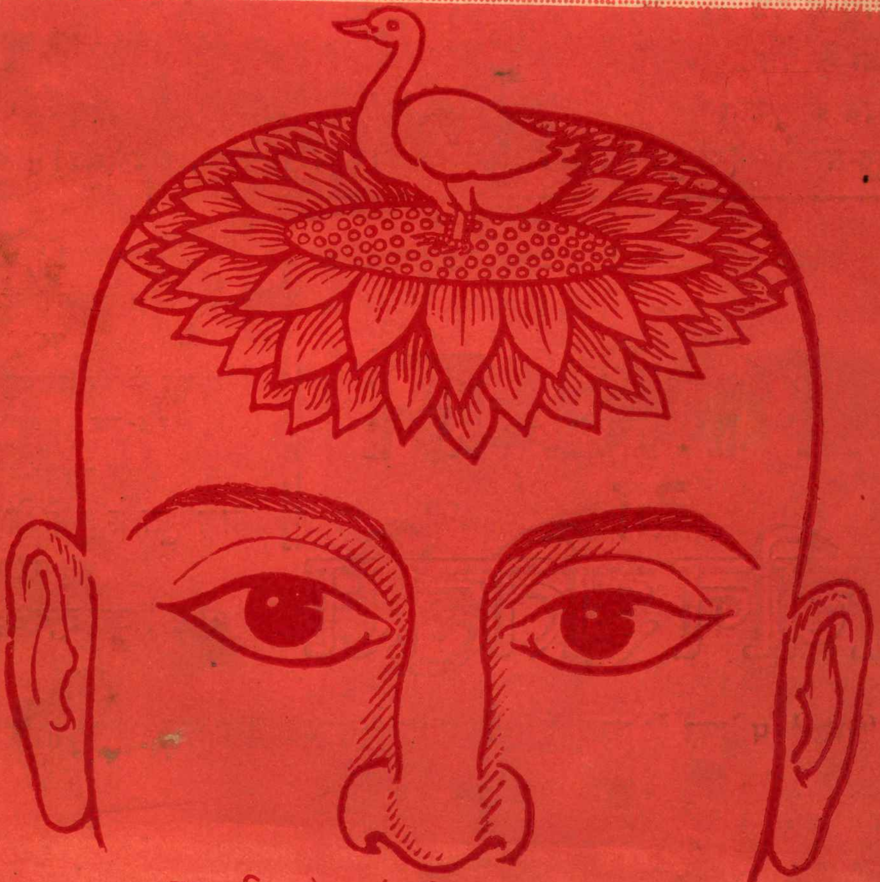

यह प्रति ८) रु०/वार्षिक मूल्य ४५) रु०

कौल-कल्पतरु

चण्डी

वर्ष ४८ : ज्येष्ठ-आषाढ़, २०४६ वि० 'चित्र-भानु'—जून-जुलाई १९८९, : संख्या ३-४

१ श्री ललिता-विजयम् : पूज्य श्री १००८ श्री स्वामी अद्वयानन्द जी सरस्वती, त्रिचि १
२ 'शिवाभिर्घोराभिः....' : पं० दामोदरदत्त मिश्र, भोजपुर, बिहार ४
३ दशावतार बनाम विकासवाद : श्रीयुत निशांतकेतु, पटना, बिहार ९
४ नादानुसंधान : पूज्य श्री स्वामी हिमालय अरण्य 'श्री हेमवती पीठ' हुगली, बंगाल १३
५ मीनाक्षी पञ्च-रत्न स्तोत्र : श्री शिवचरणलाल महावीर चौरसिया, नागपुर १७
६ पूज्य-पाद श्रीहंसचरण अमृतेश भट्टारक : पं० वेणीमाध त्रिपाठी, मलाड, मुम्बई २०
७ 'सद्-गुरु' की कृपा का सिंहावलोकन : श्रीशिवशङ्कर श्रोत्रिय, भीलवाड़ा, राज० २३
८ बिहार-शाक्त-सम्मेलन की गोष्ठियाँ २५
९ जिज्ञासु के पत्र २६
१० पाठकों के पत्र २७
११ निवेदन व सूचना २८
१२ श्रीगुरु-साधना (श्रीगुरु-पूजन की विधियाँ और श्रीगुरु-स्तव, कवचादि) १-४०

भागवतधर्म का प्राचीन इतिहास

भागवत धर्म
सनातन हिन्दू धर्म
पर
विस्तृत रूप में प्रकाश डालनेवाली
शोध-पूर्ण उपयोगी पुस्तक
मूल बँगला-लेखक
ब्रह्मीभूत स्वामी विद्यारण्य जी
अनुवादक
श्री रमादत्त शुक्ल, एम० ए०

'चण्डी' पत्रिका के सदस्यों के लिए डाक-व्यय सहित मूल्य १०-०० रु०

श्री ललिता-विजयम्

['चण्डी' वर्ष ४७--माघ-फाल्गुन, २०४५—फरवरी-मार्च, १९८९ के पृष्ठ ५ के आगे]

पूज्यश्री १००८ श्री स्वामी अद्वयानन्द जी सरस्वती, श्रीछाया-पीठं, त्रिचि (तमिलनाडु)

असुरों का मोह दूर हुआ और उन्होंने अनुभव किया कि समुद्र से निकलनेवाली सभी दिव्य वस्तुओं को देवों ने ले लिया है। क्रुद्ध होकर वे झपटे और धन्वन्तरि के हाथ से अमृत का घट छीन लिया। तुरन्त ही देवों और दानवों में भयङ्कर युद्ध छिड़ गया। राज-राजेश्वरी ललिताम्बिका के परम भक्त विष्णु ने तत्काल ही परामम्बा का ध्यान किया और उनके वामा-स्वरूप के सौन्दर्य का कुछ अंश पाकर 'मोहिनी'-रूप में बदल गए।

विष्णु का वह 'मोहिनी'-रूप सैकड़ों लक्ष्मियों से भी अधिक सुन्दर था। उसका सौन्दर्य किसी को भी मुग्ध करने में समर्थ था। वह अप्रतिम सुन्दरी मोहिनी आगे बढ़ी और असुरों के पास पहुँचकर अपनी मनोहर मुस्कान से उन्हें मोहित करती हुई उनसे बोली—"तुम लोग इस अनावश्यक युद्ध को बन्द करो। मैं निष्पक्ष होकर उस अमृत को तुम सबको बराबर-बराबर बाँट दूँगी।"

मोहिनी के दिव्य रूप और मधुर वाणी से मुग्ध होकर असुरों ने उसकी सलाह मान ली। उन्होंने अमृत का घट मोहिनी के हाथों में दे दिया और एक पंक्ति में बैठ गए। लक्ष्मी की कृपा से देवताओं ने विष्णु-माया को समझ लिया और वे भी पंक्ति-बद्ध हो गए। मोहिनी देवी ने अमृत-घट को अपने बाँएँ हाथ में लिया और दाएँ हाथ में एक स्वर्ण-चम्मच लेकर पैरों की पायल की मधुर झंकार के साथ मनोहर चाल से चलती हुई पहले देव-पंक्ति को अमृत बाँटना प्रारम्भ किया। देव-लोक में अमृत को सुरक्षित रखने के लिए देवी ने वासव को अमृत दिया। केवल सैम्बिकेय नामक एक असुर ने, जो देव-वेष में था, कुछ अमृत प्राप्त कर लिया और उसे वह पी गया। चन्द्रदेव और सूर्यदेव ने उसका भेद खोल दिया, जिस पर मोहिनी ने अपने हाथ के चम्मच के प्रहार से उसके सिर को धड़ से अलग कर दिया, किन्तु वह मरा नहीं क्योंकि वह अमृत पी चुका था। वह आकाश में उड़ गया और उसके दो स्वरूप बन गए—राहु और केतु।

इस प्रकार देवों में सारा अमृत बाँटकर मोहिनी ने खाली घट असुरों के आगे रख दिया और अन्तर्धान हो गईं। घट को खाली देखकर असुर कुपित हो उठे और देवों से संघर्ष करने लगे। अमृत-पान से परिपुष्ट देवों ने युद्ध में दानवों को हरा दिया। तब मरे हुए साथियों को छोड़कर शेष असुर भागकर पाताल-लोक में और दिशाओं के छोरों में जाकर छिप गए। पूर्व-पराजित इन्द्र ने पुनः अपने स्वर्ग-लोक को प्राप्त किया और वे पुनः तीनों लोकों पर पहले के समान शासन करने लगे।

मोहिनी देवी के विलक्षण कार्य से चकित होकर नारद जी कैलास पहुँचे और नन्दी देव की अनुमति लेकर परम शिव के समीप उपस्थित हुए। उनके प्रणाम का उत्तर देकर शिव ने उनसे पूछा—'हे देवर्षि! विष-पान कर मेरे कैलास वापस आ जाने पर देवों और दानवों में अमृत के लिए जो संघर्ष हुआ, उसमें कौन विजयी रहा? विष्णु ने वहाँ क्या चमत्कार दिखाया? मुझे बताओ।"

नारद ने कहा--"हे सर्व-व्यापी भगवन्! क्या आपसे कोई बात छिपी है? उस संघर्ष के समय आदि-नारायण मानों साक्षात् सुन्दरता की देवी के मोहिनी-स्वरूप में प्रकट हुए। उन्हें देखते ही संघर्ष रुक गया। उनके सुझाव पर दानवों ने उन्हें अमृत-घट दे दिया और वे ठगे गए। मोहिनी ने सारा अमृत अकेले देवों में बाँट दिया। उनके अन्तर्धान हो जाने पर असुरों ने देवों से युद्ध किया किन्तु वे हार गए और भागकर पाताल-लोक में जा छिपे।"

नारद से उक्त समाचार पाकर शिव चकित हुए और पार्वती के साथ क्षीर-सागर जा पहुँचे। उन्हें देखकर शेष-शायी उठ बैठे। उनका स्वागत किया और आलिङ्गन कर उन्हें आसन पर बिठाया। फिर आने का कारण पूछा। परम शिव ने कहा—"हम आपके जगन्मोहक रूप का दर्शन करने आये हैं। आप सभी की कामनाओं को पूर्ण करनेवाले कामधेनु-स्वरूप हैं। कृपया हमारी कामना पूरी करें।"

तुरन्त ही माधव (विष्णु) अदृश्य हो गये। जब त्रिनेत्र परम शिव ने इधर-उधर देखा, तो उन्हें अपने समक्ष एक सुन्दर पुष्प-वाटिका दिखाई पड़ी। खिले हुए पुष्पों पर भौंरे मंडरा रहे थे और मधुर गुंजन कर रहे थे। चम्पा आदि विविध पुष्पों की मादक सुगन्ध वातावरण में व्याप्त हो रही थी। कोमल आम्र-पल्लवों को खाकर कोयलें आनन्द से कूक रही थीं। अशोक वृक्षों के नीचे मयूर नाच रहे थे। पाटलि, तमाल आदि पुष्पों की मोहक सुगन्ध कमल-गन्ध के साथ मन्द-मन्द पवन में मिलकर उस वाटिका को सब कुछ त्यागनेवाले विरक्त मुनियों के भी लिए आकर्षक बना रही थी। वहीं, एक पारिजात-वृक्ष के समीप, उदयकालीन सूर्य जैसी अरुणाभावाली एक नवयुवती दिखाई पड़ी, जो सर्वाङ्ग-सुन्दरी थी। उसको देखते ही शिव उस पर आसक्त हो उठे। पार्वती को छोड़कर वे उसके पीछे भागे और पकड़ कर बलपूर्वक उसे अपने हृदय से लगा लिया।

शिव और मोहिनी के इस संयोग के फल-स्वरूप तत्काल 'महा-शास्ता' का आविर्भाव हुआ, जो सभी राक्षसों को जीतने में समर्थ थे। वही बाद में 'शास्ता' या 'हरिहर-पुत्र' के नाम से प्रसिद्ध हुए। केरल के पाण्डल प्रदेश के पाण्डिया—नरेश राजशेखर के पुत्र-रूप में इन्हीं शास्ता ने अवतार लेकर महिषी नामक राक्षसी का वध किया था और सिंह पर सवार होकर सिंहों के झुण्ड के साथ पण्डाल-प्रदेश में प्रवेश किया था। 'मणि-खण्ड' नाम से वे प्रसिद्ध हुए थे। इन महा-शास्ता के जन्म के बाद माता-पिता ने उन्हें आशीर्वाद दिया था व अन्तर्धान होकर अपने-अपने लोक को प्रस्थान किया था।

शिष्य—गुरुदेव! देव-गण ब्रह्मदेव के पास पहुँचे थे और उनसे सुरपद्म तथा अन्य असुरों के विनाश करने का उपाय करने की प्रार्थना की थी। क्या ब्रह्मा जी ने उन्हें कोई उपाय बताया था या यही कहकर वे चुप हो गये थे कि लोगों को अपने कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है।

गुरुदेव—यद्यपि कर्मों का फल निश्चय ही भोगना पड़ता है, तथापि दुष्कर्मों के परिणाम से बचने का उपाय करने से कोई नहीं चूकता। जब वे ऐसे उपाय करते हैं, तब यदि दुष्कर्मों का प्रभाव समाप्त होने को होता है, तो कष्ट समाप्त हो जाते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि उपायों से ही वे कष्ट समाप्त हुए हैं। ब्रह्मदेव ने देवों को उनके सारे दुष्कर्मों का वर्णन किया, जिसके कारण उन्हें कष्ट सहने पड़े और तब उन्हें बताया कि सुरपद्म तथा अन्य असुरों पर विजय पाने के लिए उन्हें क्या करना होगा।

शिष्य—ब्रह्मा जी ने देवों को बताया कि 'हमें अपने दुष्कर्मों के कारण न केवल सुरपद्म, सिंहमुख और तारक तथा अन्य असुरों के द्वारा कष्ट भोगने पड़ते हैं अपितु अन्य दुःख भी सहने पड़ते हैं।

इस कथन के बाद उनको देवताओं के साथ अन्य क्या बातें हुईं ? कृपया वह सब हमें बतायें।

इस पर गुरुदेव ने वह सब कहना आरम्भ किया, जो देवों ने ब्रह्मा जी से कहा था--

देवों ने कहा—"भगवन् ! हम लोगों की रक्षा के लिए चारों दिशाओं को देखने के लिए आपके चार मुख हैं। आप कहते हैं कि हमें और भी कष्ट सहने होंगे, मानों सुरपद्म तथा अन्य असुरों से जो पीड़ा हम पा रहे हैं, वह पर्याप्त नहीं है ! हम क्या करें ? सुरपद्म का कनिष्ठ भाई तारकासुर भी हमें अकथनीय कष्ट पहुँचा रहा है। ऋषियों को वह पीड़ित कर रहा है। इन्द्र के कल्पवृक्ष, चिन्ता-मणि, कामधेनु आदि को छीन लिया है। उसके आगमन की बात सुनते ही सभी देवता भय से भाग खड़े हुए हैं। वह स्वयं स्वर्ग में घुस आया है और सारी सम्पत्ति लूट ली है। गगन-चुम्बी दिव्य आवासीय स्वर्ण-प्रासादों पर उसने अधिकार जमा लिया है। स्वर्ण-सोपानों से युक्त जलाशय को उसने रिक्त कर दिया है। इन्द्र के सारे राज्य को उसने नष्ट कर डाला है, सूर्य और चन्द्र के अधिकारों को छीन लिया है। अग्नि और यम तेज-हीन हो गए हैं। उनके अधिकारों को तारक ने हड़प लिया है और वही उनके कार्यों को कर रहा है। देव-लोक की रमणियों को वह पकड़ ले गया है और उन्हें कारागार में बन्द कर दिया है। उसके अत्याचारों का उल्लेख करने तक में हमें लज्जा आती है। उसके पराक्रम की ज्वाला में तीनों लोक भस्म हो रहे हैं। कुछ देवों ने डर कर मानव-रूप धारण कर लिए हैं और भू-लोक में भटक रहे हैं। आप असहायों के रक्षक हैं। सङ्कट के इस सागर से पार करानेवाली नौका के क्या आप नाविक नहीं हैं ? यदि आप सुरपद्म तथा अन्य असुरों के विनाश का उपाय हमें नहीं बताएँगे, तो हमारा बचना असम्भव है।"

जब देवताओं ने इस प्रकार दयनीय होकर प्रार्थना की, तब ब्रह्मदेव ने उन्हें उत्तर दिया।

ब्रह्मदेव बोले--"अति दुर्दान्त सुरपद्म तथा अन्य असुरों द्वारा उत्पीड़ित हे देवों ! मैं उनके नाश की एक योजना तुम्हें बताऊँगा। सुनो ! माया के पुत्र सुरपद्म, सिंहमुख और तारक ने बचपन में हजारों वर्षों तक परम शिव को प्रसन्न करने के लिए घोर तपस्या की, किन्तु शिव ने उन पर कृपा नहीं की। तब उनकी मां ने उनके लिए यज्ञ की वस्तुओं को भारी मात्रा में एकत्र किया। उन्होंने बड़े बृहत् रूप में यज्ञ आरम्भ किया और दस हजार वर्षों में उसे सम्पन्न किया। फिर भी शिव उनके समक्ष प्रकट नहीं हुए। तुरन्त ही सुरपद्म आकाश में उछल कर गया और वहीं ठहर कर वह अपनी मांस-पेशियों को चाकू से टुकड़े-टुकड़े कर यज्ञाग्नि में उनकी और अपने रक्त की आहुति देने लगा। इस प्रकार एक हजार वर्ष तक उसने यज्ञ किया। इस पर भी शिव को प्रकट न होते देखकर वह यज्ञ में गिरकर भस्म हो गया।

"यह देखकर सिंहमुख आकाश में उछल कर गया और वह भी अपने मांस के टुकड़े-टुकड़े कर अपने रक्त के साथ यज्ञाग्नि में एक हजार वर्ष तक आहुति डालता रहा तथा अन्त में अग्नि में कूद कर भस्मीभूत हो गया। उसके बाद तारकासुर भी आकाश में गया और मांस तथा रक्त की आहुति एक हजार वर्ष तक देता रहा। अन्त में जब वह भी अग्नि में गिरने को प्रस्तुत हुआ, तब शिव उसके समक्ष प्रकट हुए और उसे अग्नि में गिरने से रोका। साथ ही उसके शरीर को पहले की अपेक्षा कहीं अधिक शक्तिशाली एवं सुन्दर बना दिया।

"शिव ने सुरपद्म और सिंहमुख को पुनर्जीवित कर दिया तथा उन्हें भी पहले की अपेक्षा कहीं अधिक शक्तिशाली एवं रूपवान् बना दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने उन तीनों को १०८ युगों तक १००८ गोलार्द्धों पर शासन करने का वरदान भी दिया। उन्होंने बहुसंख्यक सैनिकों और शस्त्रागारों

(शेष पृष्ठ १६ पर)

'कर्पूर-स्तव-राज' प्रतीकों का एक आश्चर्य-जनक खजाना !

'शिवाभिर्घोराभिः....'

पं० दामोदरदत्त मिश्र, कोरानसराय, भोजपुर (बिहार)

'कर्पूरस्तवराज' के सिर्फ एक श्लोक का अर्थ करने जा रहा हूँ मैं ! मुझे लगता है कि तन्त्र-शास्त्र का सर्वस्व इस श्लोक में उड़ेल दिया गया हो। इस श्लोक में डुबकी लगाकर मैंने पता नहीं कितने रतन पाये हैं। इसी श्लोक ने मुझे बताया कि 'तन्त्र-शास्त्र को गोपनीय मत रखो, इसे प्रकाश में आने दो।' यह इसलिए कि अकेले तन्त्र-शास्त्र ही सही जीवन जीने की विधि बतलाता है।

इस श्लोक में काली मैया का ध्यान है। इस श्लोक में वर्णित स्वरूप का ध्यान करके हमें भी उसी के अनुरूप बनना है। तभी हम सही तन्त्रोपासक हो सकेंगे—'देवो भूत्वा यजद्देवं, नादेवो देवमर्चयेत्' के सिद्धान्त के अनुसार।

हाँ, तो काली मैया का ध्यान हमें 'श्मशान-वासिनी' के रूप में करना है। समस्त ब्रह्माण्ड ही श्मशान है क्योंकि इसमें शव ही सोते हैं—'शवाः शेरते यस्मिन्, तत् श्मशानम्'। हम सभी अज्ञानी जोव शव ही हैं। चलने-फिरने से क्या हुआ ? 'शव' धातु में गति का अर्थ तो समाहित है ही। 'शव गतौ' धातु से 'शव'—शब्द की निष्पत्ति होती है। चलने-फिरने के बावजूद भी हम सभी 'शव' हैं। अथवा यों कहें कि 'शव' में भी एक अलक्षित गति चलती रहती है। हम सभी 'शव' हैं क्योंकि चेतन शिव को हमने प्रकाशित नहीं होने दिया है। चेतन शिव को जड़ शव पर हावी होने दो, तो तुम शिव हो। इसके विपरीत जड़ शव, चेतन शिव पर हावी है, तो तुम शव हो। फिर भी काली मैया तुम्हें छोड़ेंगी नहीं। वे तुम्हारे अन्तस्तल में विराजमान रहेंगी ही। 'शव' बन कर इस जगत्-रूपी श्मशान में तुम अज्ञान-निद्रा में सोते रहोगे और वे तुम्हारे भीतर तुम्हारे 'शवत्व' को 'शिवत्व' के रूप में परिवर्तित करने की प्रेरणा देती रहेंगी।

'शव' से 'शिव' होते ही आस-पास का सारा दृश्य बदल जायगा। तब वस्तु-गत जगत् में कुछ अन्तर न होते हुए भो भाव-गत अन्तर तो पूरा-का-पूरा हो ही जायेगा। भयानक सियारिनें तब भय-प्रद नहीं रह जायँगी—वे शिवाएँ हो जायंगी। एक ओर वे घोरा हैं, तो दूसरो ओर वे ही 'शिवा' भी हैं। आँख के ऊपर के चश्मे को बदलने की देरी है। उनके 'घोरा' से 'शिवा' के रूप में बदलने में देर नहीं लगेगी।

हम स्वयं ही अपना अहित कर रहे हैं। जो शिव-प्रद, कल्याण-प्रद हैं, उन्हें घोर और भय-प्रद समझ रहे हैं। शिवाएँ शव-भक्षिणी हैं। उनके शरीर का अभिन्न अंश बनकर 'शव' पुनः 'शिव' बन जाता है। कुछ क्षण पहले जो जड़ था, वह देखते-ही-देखते चेतन बन जाता है। जो परमाणु कुछ क्षण पूर्व निष्क्रिय और निश्चेष्ट थे, वे ही शिवाओं के शरीर में जाकर सचेष्ट और स्पन्दन-शील हो गये...अब वे रक्त-सेल, मांस-सेल, मज्जा-सेल आदि के रूप में बदल कर उन्हीं शिवाओं के शरीर में फुदकने लगे।

सियारिनों के 'शिवा' नाम में यही रहस्य है। शिवाओं का कर्म घोर है। शिव का कर्म भी तो घोर है, इससे क्या हुआ ?

अमङ्गल्यं शीलं तदपि तव नामैकमखिलम्।
तथापि स्मर्तॄणां वरद-परमं मंगलमसि।।

पूरा-का-पूरा शील अमङ्गल्य होते हुए भी वे अपने ध्यान-कर्ताओं के लिए परम मङ्गल-मय बन जाते हैं। ठीक उन्हीं शिव के अनुरूप हैं शिवाएं। उनको हमें घोरा नहीं समझना है, शिवा समझना है। हम घोरा-बलि नहीं चढ़ायेंगे, हम शिवा-बलि देंगे तभी हम 'घोरा' को 'शिवा' के रूप में देख पायंगे और घोरा को शिवा के रूप में देखने का ही दूसरा नाम है—'शव' से 'शिव' बन जाना, पशु से पाश-मुक्त हो जाना। पाश-बद्ध पशु में और पाश-मुक्त शिव में कोई वस्तु-निष्ठ अन्तर नहीं है—भाव-निष्ठ अन्तर है। हम शिवा को भी घोरा समझ रहे हैं, इसीलिए पाश-बद्ध हैं, पशु हैं।

हमारे अन्तस्तल में भय समाया हुआ है, इसलिए हम भयभीत हैं। भय बाहर नहीं, भय भीतर है। हम भीतर के भय को बाहर आरोपित करते हैं और तब वही गलती कर बैठते हैं कि शिवा को भी घोरा समझने लगते हैं। इससे हम अपने पैर में आप ही कुल्हाड़ा मारते हैं--भय की एक विशाल श्रृङ्खला—एक लम्बी कड़ी हमारे जीवन को जकड़कर उसका रस चूसने लगती है। फिर धनाभाव का भय, स्वास्थ्याभाव का भय, सुखाभाव का भय, सौभाग्याभाव का भय और सबसे दारुण भय-मृत्यु-भय हमारे इर्द-गिर्द गिद्धों की तरह मँडराने लगते हैं। मृत्यु तो मृत्यु—जीवन भी मृत्यु बनकर रह जाता है तब। तन्त्र-शास्त्र जीवन को मृत्यु नहीं बनाने देना चाहता। वह जीवन को जीवन बनाने का शास्त्र है, किन्तु तन्त्र-शास्त्र की इयत्ता इतने में ही नहीं है। वह इससे और भी आगे बढ़ता है और मृत्यु को भी जीवन बनाता है।

'शव-निवह-मुण्डास्थि-निकरैः—
परं सङ्कीर्णायां प्रकटित-चितायां हर-वधूम्।'

इस उक्ति के रमणीय अर्थ को समझ-समझ कर और अपने जीवन की अनन्तता, निस्सीमता और अखण्डता का भान करके चित्त एक अपूर्व आनन्द-सागर में हिलोरें लेने लगता है—

"हमारी काली मैया शव-समूहों, मृतक-मुण्ड-समूहों, और अस्थि-समूहों से आच्छन्न श्मशान-भूमि की जलती चिता पर महा-काल के साथ विपरीत-रति में निमग्न हैं।"

अब हमें इन सब पर विचार करना है। शव-समूह और शव के अन्य अवयवों के समूह श्मशान में बिखरे ही नहीं हैं बल्कि वे इस तरह एक-दूसरे से अनुस्यूत हैं कि श्मशान-भूमि परम सङ्कीर्ण हो गई है। तिल भर भी जगह बाकी नहीं रह गई है, जहाँ शव के शवाङ्गन रहे हों। इसी बीच चिता जल रही है। ये सब जड़ तत्त्व हैं, किन्तु यह देखिये—अब इनमें से कुछ भी जड़ नहीं रह गया है, सब कुछ चेतन हो गया—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' हो गया क्योंकि एक से एक सटे इन सबसे सटी चिता पर, चिता से सटे परम चेतन-स्वरूप महा-काल के साथ उनकी पत्नी, अतएव स्वयं भी चैतन्या हमारी काली मैया आरूढ़ हैं। अब सारे जड़ का प्रसार चेतना से लबालब भर गया। जड़ तत्त्व को निकाल कर कहीं अलग रख देने का अब कोई रास्ता ही नहीं है। जहाँ से निकालेंगे, वहाँ भी वह महा-समुद्र के जल की तरह पुनः आकर भर जायगा। फिर इसे निकाल कर रखेंगे, तो कहाँ ? पूरा ब्रह्माण्ड ही तो श्मशान है और उसमें भी

'परं सङ्कीर्णायां' की स्थिति सर्वत्र है। कोई जगह अब खाली ही नहीं है, जहाँ रखकर पहली जगह को खाली कर दें। इसी स्थिति को उजागर करते हुए उपनिषद् का ऋषि कह रहा है--

ॐ पूर्णमिदः पूर्णमदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

अब यहाँ भी एक ही चीज दो चश्मों से दो तरह से दीखने लगती है। अगर हम पाश-बद्ध पशु हैं, तब तो 'शव-निवह-मुण्डास्थि-निकरैः परं सङ्कीर्णा' चिता के रूप में संसार को देखेंगे, अन्यथा चिन्मय महा-काल के साथ सामरस्य-भाव से स्थित महाकाली-तत्त्व से संयुत होने के कारण 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के दर्शन करेंगे।

दूसरी भूमिका पर चढ़ने की सीढ़ी है--पहली भूमिका। पहली भूमिका व्यावहारिक सत्ता है, और दूसरी भूमिका है पारमार्थिक सत्ता। अभी तो हम व्यावहारिक सत्ता को भी ठीक से देखने में गलती कर रहे हैं। 'कर्पूर-स्तव-राज' जैसे बता रहा है, वैसे हम व्यावहारिक सत्ता को देखें, तो पारमार्थिक सत्ता तक पहुँच सकने का मार्ग प्रशस्त हो जाय, किन्तु हम उसको भी न तो ठीक से देखते हैं और न ठीक से समझते ही हैं। अभी तो हम जो कुछ अपने इर्द-गिर्द देख रहे हैं, उसे ही सत्य समझ रहे हैं और इसी से पग-पग पर धोखा खा रहे हैं।

हमें समझना यह है कि जो कुछ सामने है, वह जीवन नहीं है। वह वस्तुतः मृत्यु है क्योंकि यहाँ हर क्षण वस्तु के हर अणु-परमाणु के साथ मृत्यु लगी हुई है। सच पूछो, तो मृत्यु किसी एक क्षण की घटना नहीं, वह अनु-क्षण होती जा रही एक प्रक्रिया है। हम बीसियों बरस बाद अपने ही फोटो को पाकर और उसको देखकर दंग रह जाते हैं क्योंकि फोटो का वह बीसियों बरस पुराना स्वरूप मृत्यु का शिकार हो चुका रहता है। शरीर के कितने लाल रक्त कण, कितने श्वेत रक्त कण और कितने-कितने अन्यान्य ऊतकों के सेल अनु-क्षण मरते जा रहे हैं, उसका हमें क्या पता? फिर कैसे कहें कि हम जीवित हैं! हम सभी मृत हैं। हमारे मुण्ड, हमारे अस्थि-समूह सब-के-सब मृत हैं—जड़ होने के नाते ही नहीं, बल्कि अनु-क्षण बदलते रहने के कारण भी। हम इसी रूप में अपने को देखें, अपने इर्द-गिर्द के वातावरण को देखें, सारे जगत् को देखें—तभी पूर्ण शान्ति मिल पाएगी, किन्तु इतनी ही शान्ति से हमें सन्तुष्ट नहीं होना है—हमें कुछ और आगे बढ़ना है।

हमें इस वास्तविकता का साक्षात्कार करना है कि इस पूरे मृतक-मय, शव-मय, शवमुण्ड-मय, शवास्थि-मय जगत् के बीच जलती चिता से पूरी तरह सट कर अवस्थित महा-काल—महा-काली का युगल सन्नद्ध-स्वरूप सबको चेतना से सराबोर कर रहा है। बिजली के तार के ऊपर विद्युद्-धारा प्रवाहित हुई कि सब कुछ विद्युन्मय हो गया। अब तार में बिजली, बल्ब में बिजली, पंखे में बिजली, हीटर में बिजली और बड़े-बड़े संयन्त्रों में सर्वत्र बिजली-ही-बिजली है। ठीक वही स्थिति संसार-रूपी श्मशान और श्मशान-वासिनी महा-काली—महा-काल के संयोग की भी है। चिन्मय महा-काल—महा-काली ने सबको तन्मय-तदाकार बना कर रख दिया है। अब यहाँ नानात्व है ही नहीं। अब न यहाँ शव है, न मुण्ड है और न ही अस्थि-निकर है—'नेह नानास्ति किञ्चन' की स्थिति अवशिष्ट रह गयी है।

श्मशान की चिता एक प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। यह ब्रह्माण्ड श्मशान है, इसके जीव शव हैं, तो फिर श्वासोच्छ्वास का क्या तात्पर्य है? क्या जीवों में जो श्वासोच्छ्वास चल रहा है, उससे वे चेतन नहीं हो गए? तब भी क्या वे 'शव' ही रह गए हैं? 'कर्पूर-स्तव-राज' का प्रस्तुत श्लोक इसका

उत्तर देते हुए एक वैज्ञानिक तथ्य को उघाड़ कर रख रहा है। श्लोक का सङ्केत शरीर में चल रहे ग्राक्सीजनीकरण से है। हमारे श्वासोच्छ्वास में आक्सीजनीकरण की जो प्रक्रिया चल रही है, वह एक प्रकार की धीमी गति से चलती हुई दहन-क्रिया ही तो है। समस्त जीव-समष्टि में चल रही इस विशाल दहन-क्रिया को देख कर ही प्रस्तुत श्लोक में कहा गया है कि इस श्मशान-भूमि में चिता जल रही है।

जीवों के शरीर के अनेक घटकों के बीच वर्तमान कार्बन के ऊपर आक्सीजन की प्रतिक्रिया से दहन-क्रिया क्या हो रही है, समस्त ब्रह्माण्ड में एक व्यापक चिता जल रही है। हम सभी जीव उस चिता में जलते हुए शव हैं और इसी अर्थ में हम जड़ हैं। मात्र हम ही क्यों, हमारा सारा स्थावर-जङ्गमात्मक ब्रह्माण्ड भी इसी अर्थ में जड़ है, किन्तु दूसरी तरफ यह सब कुछ चेतन भी है क्योंकि परम चैतन्य-स्वरूपा महा-काल-सहिता महा-काली अपने सम्पर्क से उसे चेतन बना रही हैं। विश्व को इसी रूप में हमें देखना है। 'कर्पूर-स्तव-राज' का यह श्लोक हमें ऐसा ही निर्देश दे रहा है। विश्व को इसी रूप में हम देखें, तो शोक और मोह से रहित हो जायँगे। इसी को उपनिषद् की भाषा में कहा गया है कि—

'तत्र को मोहः, कः शोकः, एकत्वमनुपश्यतः।'

'कर्पूर-स्तव-राज' के उक्त श्लोक में एक अपूर्व साधारणीकरण की ओर संकेत किया गया है। जड़-वादी जड़ाद्वैत-वाद को मानते हैं और चेतन-वादी चेतनाद्वैत-वाद को, किन्तु तन्त्र-शास्त्र के इस श्लोक में एक विशेष प्रकार के उभयाद्वैत-वाद को प्रतिष्ठापित किया गया है, यद्यपि यह शब्द अपने आप में निरस्त है। परमार्थतः उभयाद्वैत-वाद बन नहीं सकता। या तो जड़ की अद्वैतता होगी और नहीं तो चेतन की। रात और दिन की तरह एक की उपस्थिति में दूसरे का रहना असम्भव है, फिर भी अवस्था विशेष में अलग-अलग दोनों की अद्वैतता माननी होगी और चेतनाद्वैत-वाद को पारमार्थिक प्रतिष्ठा देनी होगी, जैसा कि श्लोक से सङ्केतित है।

इस बात को हम ऐसे समझें कि हम जो कुछ देखते हैं, वह जड़ है—'शव' है। इस अर्थ में बड़ ही अद्वैत-रूप में व्याप रहा है, किन्तु इसके भीतर जो कुछ भी प्रक्रिया चल रही है, वह चेतनता की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता सब कुछ चेतन ही है। इसलिए हम इस स्थिति को चेतनाद्वैत-वाद की संज्ञा देते हैं। हमें यहीं तक पहुँचना है, किन्तु हम जिस स्थिति में हैं, जिस धोखे में हैं, चेतन को जड़ और जड़ को चेतन मानने का जो गड्ड-मड्ड कर रहे हैं, उससे एकबारगी चेतनाद्वैत-वाद तक पहुँच भी नहीं पायेंगे। जड़ाद्वैत-वाद को एक छलाँग में पार कर हम चेतनाद्वैत-वाद की अन्तिम मंजिल तक पहुँच नहीं सकते। बीच में जड़ाद्वैत-वाद—सामने जो कुछ भी है, मृत है, शव है, मुण्ड है, अस्थि-निकर है यानी जड़ है—इस तथ्य को गले के नीचे से उतारना ही पड़ेगा।

और अन्त में जो कुछ भी हमें समझना है, वह इस पूरे श्लोक की आत्मा है। चिता के ऊपर महा-काल—पत्नी, अति युवती, पराम्बा महा-काली विपरीत-रति में प्रविष्ट होकर सन्तुष्ट हो रही हैं।

प्रविष्टां संतुष्टामुपरि सुरतेनाति युवतीं,
सदा त्वां ध्यायन्ति क्वचिदपि न तेषां परिभवः।

आखिर विपरीत-रति में संलग्न होने का तात्पर्य क्या है? शिव और शिवा—महा-काल और महा-काली—भुवनेश्वर और भुवनेश्वरी सदैव समन्वित हैं। आपने एक फोटो देखा होगा, जिसमें एक तरफ से देखने पर वह बच्चे का फोटो हो जायगा और दूसरी तरफ से देखने पर वही बूढ़े का फोटो हो

जायगा। एक ही फोटो में बच्चे को देखते हैं और बूढ़े को भी। शिव-शक्ति-सामरस्य भी ऐसी ही स्थिति है। दोनों यहाँ दो नहीं हैं-- एक ही में दो दिखाई देते हैं। अब चाहे महा-काल नीचे रहें, तब या महा-काली नीचे रहें, तब-दोनों स्थितियों में तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। दोनों में शिव और शिवा का-प्रकृति और पुरुष का-जड़ और चेतन का संयोग एक समान रहेगा। हाँ, महा-काली ऊपर रहेंगी, तो आपाततः वे ही दिखाई देंगी--महा-काल अर्थात् शिव-तत्त्व अथवा पुरुष छिपे रहेंगे। शिव के छिपे रहने की अवस्था और महा-काली के अर्थात् शिवा, या यों कहें कि प्रकृति या जड़-तत्त्व के प्रकाश में रहने की अवस्था, हमारे लिए अधिक उपयोगी है, अनुकूल है। शिवा के पति होने की क्षमता भी तो शिव को शिवा के सान्निध्य के चलते ही हुआ है। महाकाली का संयोग प्राप्त न हो, तो शक्ति के अभाव में शिव में स्पन्दन भी सम्भव नहीं है। साकार में ही स्पन्दन सम्भव है व आकार कहीं भी आयगा, तो जड़-तत्त्व से ही। इसीलिए सांख्य-शास्त्र में इस तत्त्व के लिए 'प्रधान'-शब्द का प्रयोग किया है। वस्तुतः चेतन-तत्त्व की कोई भी पहचान, इस जड़-तत्त्व के द्वारा ही मिल पाती है। भ० शङ्कराचार्य ने कहा है कि-

'न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।'

महा-काली या शिवा-तत्त्व भौतिक ऐश्वर्य-समृद्धि का प्रतीक है, तो महा-काल या शिव-तत्त्व चेतन आत्मा का-ब्रह्म का। पहले के ध्यान से भुक्ति की प्राप्ति होती है, तो दूसरे के चिन्तन से मुक्ति की। यहाँ पराम्बा महा-काली भुक्ति-विधायिनी के रूप में आई हैं, इसीलिए वे सुरत में महा-काल के ऊपर हैं-विपरीत-रति में संलग्न हैं। भुक्ति के मिलने पर ही मुक्ति की सार्थकता है। पहले भोग नहीं, तो फिर मोक्ष किससे? यहाँ भोग-दायिनी के रूप में महा-काली का ध्यान है, इसीलिए फल-श्रुति में कहा है-

सदा त्वां ये ध्यायन्त्युदति न तेषां परिभवः।

वस्तुतः जिसे सभी भोग्य ऐश्वर्य प्राप्त हो जायँगे, उसका परिभव होगा, तो कैसे? न धन की कमी, न जन की कमी, न विद्या की कमी और न बुद्धि की कमी—सब कुछ में खुशियाली ही खुशियाली है, तो फिर परिभव कैसा?

अन्त में एक और प्रश्न उठाना उचित होगा। इस ध्यान में रति का प्रदर्शन क्यों? एक तो रति अपने आप में ही एक गोप्य क्रिया है, दूसरे जगन्माता और जगत्-पिता की रति-क्रिया! इसे उछाला क्यों गया है? निबन्ध की पूर्णता के लिए उक्त प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

यहाँ 'सुरत' आनन्द-तत्त्व का प्रतीक है। सत्-तत्त्व की प्रतीक महा-काली हैं, चित्-तत्त्व के प्रतीक महा-काल हैं और इन दोनों का समागम यानी सुरत' आनन्द-तत्त्व का प्रतीक है। तात्पर्य यह है कि न तो अकेले महा-काली ही सच्चिदानन्दात्मका हैं और न अकेले महा-काल ही सच्चिदानन्दात्मक परम-तत्त्व हैं। दोनों के समन्वित स्वरूप में ही सच्चिदानन्दात्मकता समाहित है। अखण्ड आनन्द ही मोक्ष का स्वरूप है। खण्डित आनन्द तो जीवन में ऐसे भी मिलता रहता है। इस प्रकार यहाँ 'सदा महा-काल-सुरत-प्रसक्ता' महा-काली के ध्यान का अर्थ अखण्ड आनन्द के चिन्तन करने से है।

क्या हम भी अपनी महा-काली मैया की तरह मृत्यु की विभीषिका के बीच, चिन्ताओं की चिता में भी परम सुख का अनुभव करते हुए अपने जीवन को 'कर्पूर-राज-स्तव' के इस श्लोक के साँचे में नहीं ढाल सकते? वस्तुतः हमारी महा-काली मैया हमें अनुक्षण यह प्रेरणा दे रही हैं कि सङ्कटों को मुस्कुराहट में उड़ा दो—स्माइल अवे डिफीकल्टीज क्योंकि गीता के अनुसार—स्थित-प्रज्ञता के लिए प्रसन्न-चित्त बने रहना अनिवार्य शर्त है--प्रसन्न-चेतसो ह्याशु-बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।

•••

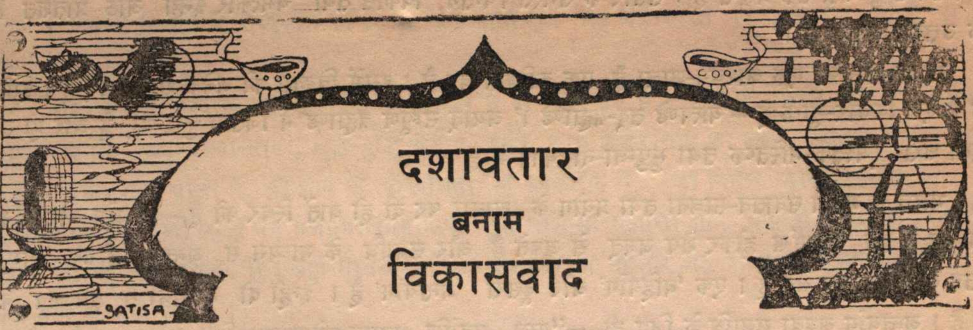

दशावतार
बनाम
विकासवाद

श्रीयुत निशांतकेतु

आचार्य तथा अध्यक्ष–हिन्दी-विभाग, पटना कालेज, पटना विश्वविद्यालय (बिहार)

मनुष्य का सबसे अधिक रहस्य-पूर्ण और चमत्कार-युक्त हिस्सा 'मस्तिष्क'

मनुष्य का मस्तिष्क सबसे अधिक रहस्य-पूर्ण और चमत्कार-युक्त है। संस्कृत के 'मस्तक' और 'मस्तिष्क' शब्द के लिए अंग्रेजी में अलग-अलग शब्द हैं–'फोर-हेड' तथा 'ब्रेन'। हिन्दी में एक ही शब्द है–'माथा'। प्रयोगों से ही इसका अर्थान्तर स्पष्ट होता है। माथा ठनकता है–तो इसका सम्बन्ध मस्तिष्क से होता है, पर माथा टनकता है–तो इसका अर्थ मस्तक से हो जाता है। संस्कृत में इन दोनों ही अर्थों को ध्वनित करनेवाला शब्द है–'शिर'। नाटक में 'प्रति-शिर' शब्द मुखौटा के लिए निर्मित है। आधुनिक सभ्यता में शिर से अधिक महत्व-पूर्ण प्रति-शिर और मुख से अधिक जरूरी मुखौटा शब्द हो चला है। सभ्यता की परतों के साथ-साथ मुखौटों के रूप-रङ्ग और आकार-प्रकार सभी अनेक-अनेक होते चले गये हैं। घर की खूँटियों पर कई-कई मुखौटे टँगे होते हैं। जैसे मुलाकाती, वैसा मुखौटा पहनकर हम हाजिर हो जाते हैं। असली चेहरे की पहचान मुश्किल हो गई है।

शरीर की विभाजक रेखा है–'ग्रीवा'। ऊपर सर और नीचे धड़। मस्तक-कक्ष को जीवन और चिन्तन का, आचरण और मनन का नियन्त्रण-कक्ष कहा गया है। रूप, रस, गन्ध, श्रवण और स्पर्श-ज्ञान के लिए, पाँचों इन्द्रियाँ— १ आँख, २ जिह्वा, ३ नाक, ४ कान और ५ त्वचा शिरो-भाग में हैं। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मस्तक में ही व्यवस्थित हैं। पञ्च-कर्मेन्द्रियों में सर्वोत्तम वाक् का आधार मुख है, जहाँ वाग्यन्त्र लगा है। इसी मस्तक में सहस्रार, बिन्दु तथा आज्ञा-चक्र हैं। यहीं चिन्तन-तन्तु हैं। मस्तक के भीतर स्थित मस्तिष्क के आधार पर ही मानव और मानवेतर प्राणियों का अन्तर किया गया है। 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी' अथवा 'मनुष्य एक चिन्तन-शील प्राणी है', ऐसा कहकर अरस्तु ने मनुष्य को पशुओं से पृथक् कर दिया।

मानव-मस्तिष्क के आधार की अनेक परिभाषाएँ

फिर तो युगान्तर के साथ मनुष्य की परिभाषाएँ बदलती गयीं। मनुष्य एक परिवार-परम्परित प्राणी है, मनुष्य एक अर्थ-बद्ध प्राणी है, मनुष्य एक वाग्बद्ध प्राणी है—जैसी अनेक परिभाषाएँ उपस्थित की गई हैं।

सार्त्र ने मनुष्य और पशु की तुलनात्मक परिभाषा में कहा,—'मनुष्य आत्म-हत्या कर सकता है, जबकि पशु आत्म-हत्या नहीं करते।'

विज्ञान की सबसे सुबुद्ध परिभाषा है—'मनुष्य एक विकास-शील प्राणी है।' इसी परिसर का अनुसन्धान है, मानव-मस्तिष्क में जितने तन्तु हैं, उनमें आठ प्रतिशत का ही स्फुरण, उपयोग और उद्‌बोधन हो पाया है। शेष बानवे

प्रतिशत चिन्तन-तन्तु अभी तक प्रसुप्त हैं। संसार के समस्त चिन्तन, विकास तथा चमत्कार इन्हीं आठ प्रतिशत चिन्तन-तन्तुओं के उत्तर-परिणाम हैं।[3]

मानव-मस्तिष्क एक आश्चर्य-शाला है, एक करिश्मा-घर है। इसमें विकास की अनेक संभावनाएँ हैं। इसी आधार पर भारत में एक विचार-सूक्ति है—'यत्पिण्डे तद्-ब्रह्माण्डे।' अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में जितना कुछ था, है और हो सकता है, वे सभी इसी शरीर (मस्तक-मस्तिष्क तथा सुषुम्ना-नलिका) में हैं।

भारत ने अपनी सनातन-साधना तथा प्रयोग के आधार पर दो ही बातें स्थिर की हैं,—१ प्रेम और २ समाधि। प्रेम के माध्यम से हम बहिर्मुख होकर शेष जगत् से जुड़ते हैं और समाधि के माध्यम से अन्तर्मुख होकर "सम्पूर्ण" को अपने भीतर अध्युषित कर लेते हैं। एक 'बहिर्याग' और दूसरा 'अन्तर्याग' है। इन्हीं दो माध्यमों से हम शेष को अशेष से जोड़ते हैं। अन्तर्याग अथवा समाधि के लिए ही—"यस्तु सर्वाणि भूतानामन्येवानुपश्यति" कहा गया है और बहिर्याग अथवा प्रेम के लिए—"सर्व-भूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते"। सभी साहित्यकार, साधक और चिन्तकों को इन्हीं दो वर्गों में व्यवस्थित किया जा सकता है। फिर ये दोनों पहलू भी एक ही सिक्के के हैं।

पश्चिम समर्थित विकास-वाद तथा भारतीय अवतार-वाद की तुलना

मनुष्य एक विकास-शील प्राणी है, कहने का तात्पर्य है, अव्याहत विकास-यात्रा का मानवेतिहास। यहाँ पश्चिम का डारविन-समर्थित विकास-वाद तथा भारतीय अवतार-वाद की तुलना आवश्यक है। जिस अमीबा (जल-तन्तु) से प्राणियों का विकास हुआ, वह विकास अभी तक विकसन-शील है। विकास के अन्तिम बिन्दु पर मानव खड़ा है। उसके मस्तिष्क के सभी पटल अभी तक खुले-खिले नहीं हैं, खुलते-खिलते जा रहे हैं। पुराणों का विकास-वादी अवतार-वाद भी इसी विकास-वाद की गाथा प्रतीक-शैली में दुहराता है। भारत में दशावतार का उल्लेख है। इनमें व्यवस्थित और निर्धारित पूर्वापर-क्रम है। क्रम से दशावतार हैं,—१ मत्स्यावतार, २ कच्छपावतार, ३ वराहावतार, ४ नृसिंहावतार, ५ वामनावतार, ६ परशुरामावतार, ७ रामावतार, ८ कृष्णावतार, ९ बुद्धावतार तथा १० कल्कि-अवतार।

'मत्स्यावतार' में परमात्मा ने मछली के रूप में अवतार लिया। मछली को पानी से अलग नहीं किया जा सकता। पानी से अलग होकर मछली मर जाएगी। यह प्रथम अवतार था। यही 'अमीबा'—रूप है।

दूसरा अवतार 'कच्छपावतार' है। परमात्मा ने कछुए के रूप में अवतार-ग्रहण किया। कछुआ जल और थल दोनों स्थानों पर रहता है। विकास का एक चरण आगे बढ़ा। तीसरा अवतार 'वराहावतार' है। परमात्मा ने शूकर के रूप में अवतार लिया। अब उसने जल को पूरी तरह छोड़ दिया। विकास का एक और चरण आगे आया। इन तीनों अवतारों में परमात्मा का पशु-रूप है। चौथा अवतार 'नृसिंहावतार' है। आधा पशु (सिंह) और आधा मानव (नृ)। विकास के इस सोपान में पशुता आधी रह गई और आधा मानवत्व स्वायत्त हो गया।

पाँचवाँ अवतार 'वामनावतार' है। परमात्मा ने पूरी तरह पशुता छोड़ दी। अब वह पूरी तरह मानव है, पर बौना (वामन) है, ठिगना है। परमात्मा का पिग्मी-रूप।

छठा अवतार 'परशुरामावतार' है। परमात्मा शरीर से पूर्ण मानव के रूप में तो विकसित हो गया, पर मन के क्रोध के कारण पशुता के निकट है। फिर भी यह विकास-चरण है।

सातवाँ अवतार 'रामावतार' है। तन और मन दोनों धरातलों पर पूर्ण विकास का स्वरूप तो बना, पर मर्यादाओं का बन्धन बना रहा। पूर्णावतार का विकास-रूप तो स्थिर हो गया, पर बन्धन खटकते रहे। मर्यादा-पुरुषोत्तम के समक्ष मर्यादा-रेखाएँ बनी रहीं।

आठवाँ अवतार 'कृष्णावतार' है। परमात्मा ने कृष्ण के रूप में अवतार लेकर तन और मन के धरातलों पर न केवल पूर्णत्व को प्राप्त किया, बल्कि समस्त बन्धन भी प्रशिथिल कर दिये। सहज-स्वाभाविकता की स्थापना हो गई। यहाँ

विकास की पराकाष्ठा मिलती है, सम्पूर्णता का शिखर बन जाता है। यह अग्र-चरित विकास-चरण तो है, पर कर्म यहाँ भी युक्त है।

नौवाँ अवतार 'बुद्धावतार' है। बुद्ध के सम्बन्ध में दो धारणाएँ हैं। एक तो गौतम बुद्ध हैं, बोधि-सत्त्व की विकास-यात्रा से बने बुद्ध, करुणा-सागर, शुद्ध-बुद्धि-बुद्ध। दूसरे, आद्य-शङ्कराचार्य को नवम अवतार माना जाता है, जो सत्त्व-बुद्धि के द्रष्टा तथा साक्षी थे, जो ज्ञान की पारदर्शिता के उपकारक थे, जो निर्मल ज्ञान-योग-मात्र थे। हम जिन्हें भी नवाँ अवतार मानें, दोनों स्थलों पर प्रज्ञा-पारमिता तथा शुद्ध-बुद्धि-परिष्कारित ज्ञान एक ही बिन्दु को रेखाङ्कित करते हैं। विकास का यह चरम शिखर है। यहाँ मस्तक में स्थित मस्तिष्क का सहस्रार शत-प्रतिशत प्रफुल्ल-विकसित हो जाता है। कल्कि अवतार अभी शेष है।

डाक्टर खुराना ने 'जीन्स' पर शोध-कार्य किया, जिसके परिणाम से मानव-मस्तिष्क के सभी तन्तुओं को विकसित किया जा सकता है। यह प्रयोग सार्वजनिक नहीं होकर प्रयोग-शाला-साधित है। इसलिए इसके परिणाम-स्वरूप समाज में एक मानव "हिमालय" और दूसरा मुट्ठियों का "कङ्कड़" रह जाएगा। समाज का वैषम्य और विषम हो जाएगा। इसलिए अनुसन्धान के प्रयोग-प्रजनन पर कानूनी प्रतिबन्ध लगा है।

एक बिन्दु में खरबों शुक्राणुओं का जीवित अस्तित्व और उनमें एक-एक के साथ मानव बन जाने की प्राकृतिक ऊर्जा का अधिवास अस्तित्व (कास्मस) का अस्तित्व-दर्शन सिद्ध करता है। एक बिन्दु शुक्राणु से ऐसी सौ पृथ्वी को वर्तमान जन-संख्या के साथ निवसित किया जा सकता है, जिसे नग्न नेत्रों से कदापि देखा नहीं जा सकता। उस परमाणु-भूत सूक्ष्म-तम शुक्राणु में एक मानव छिपा पड़ा है। और फिर वहाँ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अधिवास कर रहा है, 'यत्पिण्डे तद्-ब्रह्माण्डे।' यहाँ जन्मान्तर की विकास-गाथा भी प्रच्छन्न है। यह सृष्टि का फीड किया हुआ कम्प्यूटर है। मस्तिष्क का यह चमत्कार अभी तक पूरी तरह रहस्योद्घाटित नहीं है। भौतिकता, मनोविज्ञान, योग, अध्यात्म, तन्त्र—सभी इस रहस्य की परतें खोलने में लगे हैं।

और हम हैं, जो थोड़ा कुछ सीखकर अहङ्कार के सिंहासन पर बैठ जाते हैं! इन सबों के समक्ष अहङ्कार का सम्पूर्ण विसर्जन आवश्यक है। तन्त्र, तन्त्र-शास्त्र और तन्त्र-निर्दिष्ट पुरश्चरण-प्रक्रिया इस 'अहम्' को विसर्जित कर 'सर्वम्' को धारण करती-कराती है। विकास का अर्थ है वर्धन-शीलता। तन्त्र का भी अर्थ है, वर्धन-शीलता—'तनोति इति तन्त्रः'—जो विस्तृत-विस्तारित करे, वह तन्त्र है।

ब्रह्म शब्द में जो 'बृंह्' धातु है, वह भी बृंहण-शील अर्थात् वर्धन-शील है। इसलिए "तन्त्र" (तनोति इति तन्त्रः) और "ब्रह्म" (बृंहण-शीलं ब्रह्म)—दोनों ही विकास और विकास-शीलता को संकेतित करनेवाले शीर्ष-शब्द हैं। जिस कृष्ण-विवर (ब्लैक होल) से सृष्टि विनिर्गत हुई है, वह यूनिवर्स भी बृंहण-शील है—एक्सपैंडिंग यूनिवर्स। इसीलिए भारतीय द्रष्टा तथा ऋषियों ने 'अनन्त' शब्द को स्थापित किया। दर्शन में जिसे हम 'नेति-नेति' कहते हैं, वही आचरण में 'अनन्त' बन जाता है। यह 'अनन्त' ही हमारी अन्त-हीन मानव-यात्रा को प्रेरित करता है।

विकास वनस्पति-विज्ञान का प्यारा शब्द है। कोई भी पेड़ या पौधा, लता या वल्लरी अपने अस्तित्व के अन्तिम क्षण तक बढ़ती रहती है। उसकी विकास-प्रक्रिया अवरुद्ध नहीं होती, लेकिन मनुष्य की शारीरिक विकास-यात्रा एक आयु के बाद अवरुद्ध हो जाती है, यद्यपि उसकी आन्तरिक विकास-यात्रा चलती रहती है। इसीलिए वनस्पति-जगत् में 'विकास' जिस स्थूल वर्धमान-प्रक्रिया को संकेतित करता है, वही 'विकास' मानव-वंश में 'आन्तरिक विकास', 'मनस्तात्त्विक विकास' अथवा 'आत्मिक विकास' को द्योतित करता है।

आत्मा तो स्थिर है। उसका विकास क्या हो सकता है! अतः यहाँ,—'आत्मिक विकास' का तात्पर्य है—आत्मिक अभिज्ञान। यही अभिज्ञान 'प्रत्यभिज्ञा' है। यही प्रत्यभिज्ञा "प्रत्यभिज्ञा-दर्शन" बन जाती है। यही 'त्रिक' और

'त्रिक-दर्शन' है, 'सामरस्य' और 'समरसता-दर्शन' है, 'स्त्यानावस्था' और 'यामल-भाव' है। विज्ञान-भैरव की भाषा में यही 'समावेश-दशा', 'पराऽवस्था' और 'निष्पंदावस्था' है।

तन्त्र, दर्शन और अध्यात्म के ये सभी शब्द 'विकास' की अन्तः-प्रक्रिया और बहिर्व्यापार को व्याख्यात तथा विनियुक्त करते हैं। अध्यात्म का यही अन्तर्याग और बहिर्याग है। दोनों ही याग आत्मा को अभिज्ञात कराते हैं। इसलिए विकास का अर्थ पूर्ण प्रत्यभिज्ञान है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन इसी विज्ञान-विनियोग, स्व-साक्षात्करण एवं साक्षित्व-भाव-भूमि के मूलार्थ को उद्‌घाटित करता है। विकास की वास्तविक एवं स्वाभाविक प्रक्रिया यही है। पश्चिम का विकास-वाद तथा भारत का अवतार-वाद मानव-विकास-यात्रा का ही अंकेक्षण और इतिहास-लेखन करते हैं।

विकास-वाद और अवतार-वाद के अध्ययन के कुछ बिन्दु

विकास-वाद, जड़ से चेतन की ओर चलता है। अवतार-वाद, चेतन (महा-चिति) से ही जड़ की भी उत्पत्ति मानता है। विकास-वाद नीचे से ऊपर की ओर जाता है, किन्तु अनभिज्ञात अथवा अप्रत्यभिज्ञात स्थिति के अन्धत्व के साथ। उसे आगे का कुछ भी मालूम नहीं होता। वह 'गच्छतः स्खलनं क्वापि' गति से चलता है। उसकी जीवन-प्रयोग-शाला की अंतः-प्रकृति है, 'ट्रायल ऐण्ड एरर' की।

अवतार-वाद (अव+तार——ऊपर से नीचे की ओर उतरना) ऊपर से नीचे की ओर उतरता अवश्य है, पर 'चिति' रूप में। इसीलिए उसका विकास जड़-वादी नहीं, वरन् चेतना-वादी और 'महा-चिति'—आकर्षण-वादी है। अवतार-वाद अपने भीतर की प्रच्छन्न 'चिति-चेतना' को विकसित करते चलता है। अवतार-वाद शून्य, आकाश, परम, निरञ्जन इत्यादि एकार्थक शब्दों को महत्त्व देता है। इसी शून्य से सृष्टि का उद्‌गम होता है और इसी शून्य में सृष्टि का प्रविलयन हो जाता है। विकास-वाद शरीर से पृथक् चिति या आत्मा का अस्तित्व नहीं मानता। अवतार-वाद शरीर से अलग आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है।

विकास-वाद नास्तिक और अवतार-वाद आस्तिक मान्यताओं पर विकसित हुए हैं। विकास-वाद का जन्म वैज्ञानिक प्रयोग-शाला के परिणाम में हुआ है, अवतार-वाद की धारणा अध्यात्म एवं पूजा-पुरश्चरण के अन्तरीक्षण तथा अन्तर्दर्शन की समाधि में हुई है। विकास-वाद आधुनिक और अवतार-वाद पुरातन है। अवतार-वाद के 'प्रतीक-विद्या-दर्शन' में विकास-वाद के सभी सिद्धान्त और निष्कर्ष समाहित हो जाते हैं, पर विकास-वाद में अवतार-वाद के सभी आविष्कृत-प्रतीकित तत्त्वों का समन्जन नहीं हो पाता। अवतार-वाद ऊँचाई से अन्ध-घाटी में उतरकर——फिर से शिखरस्थ होता है। विकास-वाद ने ऊँचाई देखी ही नहीं, वह एक-एक पग ऊपर चढ़ता है। विकास-वाद चरम भौतिक-विकास में बँधकर अवरुद्ध हो जाता है, परन्तु अवतार-वाद चेतना के परम विकास अथवा 'महा-चिति-मिलन' के भूमा-भाव तक जाता है।

अवतार-वाद का अर्थ दशावतार-मात्र नहीं। अवतार-वाद का अर्थ है अवतरण, शून्य से सृष्टि का उद्भव। जो ज्ञात है, वह सृष्ट है। जो अज्ञात है, वह असृष्ट या अव्यक्त है। व्यक्त से अव्यक्त, ज्ञात से अज्ञात और सृष्ट से असृष्ट सदैव महत्तर एवं बृहत्तर होता है। ज्ञात से अज्ञात और अज्ञात से भी 'अज्ञेय' बड़ा है। अज्ञात की भी सीमा हो सकती है, पर अज्ञेय तो अपरिमेय होता है। अवतार-वाद की यात्रा उस अज्ञेय तक की बनती है। इसीलिए 'चरैवेति चरैवेति' का निर्देश-दर्शन है।

विकास-वाद शरीर (स्थूल) और मन (बुद्धि-सीमान्त) की व्याख्या करता है और उससे ऊपर नहीं उठता। उसे शरीर-मुक्त आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास नहीं। वह शरीर-विज्ञान और शरीर-बद्ध इन्द्रियों के आचरण को ही अन्तिम मान लेता है। मन और मनोविज्ञान तक उसकी आस्था है, पर आत्मा के अस्तित्व को वह नहीं मानता। इसीलिए विकास-वाद का विकास अवरुद्ध पड़ा है। अवतार-वाद का विकास-दर्शन सर्वांगीण एवं बहिरन्तर-सम्मत है। अवतार-वाद अणु-अणु में अनन्त का अधिष्ठान मानता है। पिण्ड में ब्रह्माण्ड, इसी आधार पर प्रमाणित है। विकास-वाद इसे नहीं मानता। इसीलिए अवतार-वाद आशा-वाद में और विकास-वाद निराशा-वाद में रहता है।

●●●

नादानुसंधान

पूज्य श्री हिमालय अरण्य, 'हेमवती पीठ', हुगली (बंगाल)

आत्म-स्वरूप में पुनः प्रतिष्ठित होने के लिये शास्त्रों में जो सकल उपाय निर्दिष्ट हुए हैं, उन सब में 'नाद-साधना' अथवा 'नादानुसन्धान' उत्कृष्ट उपाय-रूप में परिगणित होता है।

मनीषी-गण 'नाद' की महिमा का कीर्तन मुक्त-कण्ठ से करते हैं। प्राचीन-काल में 'वाग्-योग' को मुमुक्षु-जनों के आश्रय-योग्य सर्वापेक्षा सरल राज-मार्ग समझा जाता था। परवर्ती-काल में सन्त-गण ने "सुरत-शब्द-योग" आख्या देकर एवं वैष्णवादि सम्प्रदाय के भक्त-गण ने 'नाम-कीर्तन' का माहात्म्य घोषित कर प्रकारान्तर से मनः-स्थैर्य-साधन के पक्ष में और मूढ़-चित्त के बोधन के पक्ष में, 'नाद' की परम उपयोगिता स्वीकार की है। योग और तान्त्रिक साधना में—'मन्त्र-जप' के मध्य भी नाद का ही सर्वातिशायी महत्त्व प्रकाशित हुआ है।

आत्मा निर्विकल्प, प्रकाशात्मक, स्वातन्त्र्य-मय, शिव-स्वरूप, नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है, किन्तु जीव परम-स्वरूप में शिव-मय होने पर भी पतित दशा में पर-स्वरूप से विस्मृत हो जाता है। केवल यही नहीं, वह अनात्म वस्तु को आत्मा समझ कर, उसमें अहं-भाव का आरोप करता है एवं तदनुसार कर्म-सम्पादन-पूर्वक सुख-दुःख-रूप तत्फल का भोग करता है। यही उसका मायाधीन सांसारिक जीवन है।

अशुद्ध विकल्प का शोधन न होने तक जीव निज-स्वरूप में आत्मा की स्थिति से लाभ नहीं उठ सकता एवं उसका स्वाभाविक ऐश्वर्य भी प्रस्फुटित नहीं होता। इस अशुद्ध-विकल्प-युक्त आत्मा की स्थिति, सभी के लिए एक प्रकार की नहीं है। ऐसी आत्माएँ भी हैं जो विकल्प-युक्त होने पर भी अति उच्च अधिकार-सम्पन्न हैं। इनको नियमादि अवलम्बन-पूर्वक किसी विशिष्ट साधन-पद्धति का अनुसरण करना नहीं होता अथवा ये मन्त्र, पूजा, ध्यान, चर्य्या प्रभृति किसी नियन्त्रण के अधीन नहीं हैं। ये भगवान् के अति तीव्र अनुग्रह-प्राप्त महा-पुरुष होते हैं।

इन पुरुषों से किञ्चित् निम्न स्तर में ऐसी आत्मायें हैं, जो सर्वोच्च आत्म-वर्ग की तरह अखण्ड-मण्डल-रूप महा-प्रकाश में स्वयं प्रवेश नहीं कर सकतीं, किन्तु आत्म-स्वरूप से अभिन्न स्वातन्त्र्य-शक्ति को उपाय-रूप में आश्रय कर, बिना आयास के उसमें प्रविष्ट होते हैं और उन्हें किसी पृथक् उपाय का अवलम्बन आवश्यक नहीं होता। ये भी विधि-निषेध के अतीत एवं मन्त्र, पूजा, ध्यान, चर्य्यादि नियन्त्रण से मुक्त हैं। यहाँ जो स्वतन्त्र शक्ति की बात कही गयी है, वह दर्पण-तुल्य बोधाकाश में प्रतिबिम्बात्मक भाव-समूह को प्रस्फुटित कर उठती है। प्रकाश से पृथक्-रूप में भाव-समूह भासमान नहीं हो सकता—इसीलिए सकल भाव ही स्वरूपतः प्रतिबिम्बात्मक है। परमेश्वर का जो विश्व-रूप कहा जाता है, यही उसका कारण है। वे अजड़ या चिदात्मक होने से—निज-स्वरूप का आमर्शन सर्वदा ही उनमें होता है (निज मुख को ही निज में देखना)। यही स्वयं-प्रकाश तत्त्व की महिमा है।

इस आमर्शन का मूल ही 'पर-नाद' है। 'परा-वाक्'—रूप में इसका स्वरूप 'आगम-शास्त्र' में कीर्तित होता है। स्वर-रूपी परामर्श-बीज एवं उससे उत्थित व्यञ्जन-रूपी परामर्श योनि। यह सकल

परामर्श ही शक्ति का निज शरीर है। मायिक भूमि में एवं मायातीत विशुद्ध विद्या के स्तर में ये सब कार्य करते हैं। विशुद्ध शिव-मय आत्म-स्वरूप में ये समष्टि-भाव से 'पूर्ण-अहन्ता'-रूप ग्रहण कर 'परा-वाणी'-रूप में विराजते हैं, किन्तु विशुद्ध विद्या के स्तर में इनके मध्य से माया का उन्मेष मात्र रूप किञ्चित् सङ्कोच आविर्भूत होता है।

मन्त्र का स्वरूप एवं मन्त्राधिष्ठाता गुरु का स्वरूप इसी स्थान में प्रतिष्ठित है, किन्तु मायिक भूमि में, ये सकल परामर्श मायिक वर्ण का रूप धारण कर आत्म-प्रकाश करते हैं। यह स्थल-भेद एवं विभाग उभय ही परिस्फुट भाव से प्रकाशित होते हैं।

ये सकल वर्ण पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी दशा में व्यवहार योग्य होते हैं और क्रमशः बाह्य रूप में प्रकट होकर तत्त्व-रूप में स्फुटित होते हैं। ये सकल मायविक वर्ण जीवनी-शक्ति-शून्य शव की तरह हैं। इनकी निज की कोई सामर्थ्य नहीं है, किन्तु पूर्व-वर्णित शुद्ध परामर्श-सकल इनको उज्जीवित करने पर ही कार्य-क्षम होते हैं। तब ये 'सकल' वर्ण वीर्य-सम्पन्न होकर भोग और मोक्ष प्रदान करते हैं। जो पुरुष अपनी आत्मा का साक्षात्कार करने का अवसर प्राप्त करते हैं, वे देखते हैं कि वही 'सकल' परामर्श अथवा शक्ति का विश्रान्ति-स्थल, उसी में समस्त तत्त्व और भुवन प्रभृति प्रति-बिम्बित रहते हैं। वे बिना परिश्रम किये निर्विकल्प भगवत्-स्वरूप पा जाते हैं। उनके लिये किसी अन्य साधना की आवश्यकता नहीं रहती। यहाँ तक कि विकल्प-संस्कार के लिये भावना भी आवश्यक नहीं।

जो आत्मायें और भी निम्न स्तर में हैं, उनका अधिकार और भी संकुचित है। पूर्व-वर्ती स्तर में विकल्प-संस्कार का क्रम नहीं रहता, वह क्षण मात्र में ही सम्पन्न होता है किन्तु निम्न स्तर में क्रम रहता है। उसी का नाम 'भावना' है, किन्तु भावना के पूर्व सत्-तर्क, सद्-आगम और सद्-गुरु के उपदेश की आवश्यकता है। शुद्ध विकल्प द्वारा अशुद्ध विकल्प का संस्कार करना होता है। अनादि काल से प्रत्येक जीव के हृदय में 'मैं बद्ध हूँ'—इस प्रकार की जो धारणा है, वही अशुद्ध विकल्प है। वहीं से संसार उत्पन्न हुआ है।

भगवान् की 'अनुग्रह'-शक्ति तीव्र मात्रा में सञ्चारित होने पर सद्-आगम आदि के क्रम का सहारा लेने से विकल्प शोधित होता है और पञ्च-तत्त्व में प्रवेश होता है। पञ्च-तत्त्व शुद्ध विकल्प का विषय नहीं है। शुद्ध विकल्प द्वारा अशुद्ध द्वैत-वासना हट जाती है, पञ्च - तत्त्व के प्रकाशन से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। पञ्च-तत्त्व तो सर्वत्र सर्व-रूप एवं स्व-प्रकाश हैं, विकल्प का प्रभाव उस पर किसी भी प्रकार नहीं पड़ता। 'शक्ति-पात' के होने से स्वतः ही हृदयाभ्यन्तर में सत्-तर्क का उदय होता है। शक्ति-पात की मात्रा अपेक्षाकृत कम होने से साक्षात् भाव से सत्-तर्क का उदय यद्यपि नहीं होता, किन्तु 'आगम' का सहारा लेने से हो जाता है।

आगम का निरूपण जो करते हैं, वही गुरु हैं। आगम शङ्का-हीन सजातीय विकल्पात्मक है, उससे समुचित विकल्प उत्पन्न होता है। यही सकल विकल्प विशुद्ध विकल्प है, जिसका अविच्छिन्न प्रवाह ही सत्-तर्क का स्वरूप है। प्रचलित भाषा में जिसे 'भावना' कहा जाता है, वह इसी सत्-तर्क की धारा मात्र है। जो भूतार्थ अस्फुट अभूत-वत् विद्यमान रहता है, वह भी इसके द्वारा परिस्फुट होता है। यही वास्तव में शुद्ध विद्या का प्रकाश एवं योग का एकमात्र अङ्ग है। यही साक्षात् योगाङ्ग है। अन्यान्य योगाङ्ग अल्पाधिक परिमाण में व्यवधान-विशिष्ट हैं।

जिन साधकों की योग्यता और भी कम है, उनके विकल्प-शोधन के लिये शुद्ध विकल्प पर्याप्त नहीं होता। उनकी सहायता करने के लिये जीवन-सत्ता की ओर से कोई-न-कोई उपाय करना आवश्यक

है। इन उपायों को ही जीव के साधन कह कर वर्णन किया गया है। ये साधन विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं। उनमें तीन मुख्य हैं—

१—'ध्यानात्मक'। यह बुद्धि का कार्य है। बुद्धि का विशेष धर्म है अनुसन्धान।

२—'स्थूल उच्चारणात्मक एवं सूक्ष्म वर्णात्मक'। यह प्राण का कार्य है। यही प्राण का विशेष धर्म है।

३—'करण-मुद्रादि-क्रियात्मक'। यह देह और इन्द्रिय आदि का व्यापार है। इन्द्रिय-विषय प्राणादि सभी का पिण्ड-रूप में एकीभाव से संस्थान ही देह का विशिष्ट धर्म है।

जो उपाय देह से बाहर हैं, वे अत्यन्त स्थूल उपाय हैं। यहाँ उनकी आलोचना की आवश्यकता नहीं है।

जो बुद्धि-स्तर में अभिमान-सम्पन्न हैं, उनके लिए 'ध्यान' ही श्रेष्ठ उपाय है। जो प्राण-मय भूमि में अधिष्ठित हैं, उनके लिए 'उच्चारण' प्रधान उपाय है।

जिन साधकों का देहात्म-भाव अत्यन्त प्रबल है, उनके लिए 'करण मुद्रा आसन' आदि विकल्प-उपशम के लिए समधिक उपयोगी हैं।

विश्लेषण—यह प्रमातृ-प्रमेयात्मक विश्व आत्मा के साथ अविभक्त रूप में अवस्थित रहने से विचित्र होने पर भी वस्तुतः प्रकाशात्मक है। शुद्ध संवित्-स्वरूप आत्मायें पूर्ण होकर भी माया-वश अपने को स्वतन्त्र समझ कर अपने से अविभक्त विश्व को अपने से अलग-सा मानती हैं और तब स्वयं को विश्वोत्तीर्ण-रूप में समझ कर विविक्त आकाश में रूप धारण करते हैं अर्थात् सकल प्रकार भाव से मुक्त होकर अनावृत-रूप से क्षुरित होती हैं। यही चैतन्य की शून्य-रूपता है। जो प्रमाता इस दशा का अधिष्ठाता है, उसी को 'शून्य प्रमाता' कहते हैं।

स्मरण रखना चाहिये कि यह शून्य वस्तुतः शून्य नहीं है, यह अभाव का नामान्तर-मात्र है। अर्थात् धर्म, सत्त्व-वर्ग और क्लेश आदि के रहने से आत्मा अभाव को ही 'शून्य' मानती है। इस अवस्था में भावात्मक अनुभूति नहीं होती। यह 'शून्य प्रमाता' कुछ बहिर्मुख होने पर भी 'प्राण-प्रमाता' के रूप में परिणत होता है। 'शून्य-प्रमाता' अपने को अपूर्ण समझता है, जिससे उसके हृदय में आकांक्षा उठती है और उस आकांक्षा के विषय को ग्रहण करने के लिए वह अपनी सत्ता से अलग आन्तर और बाह्य पदार्थ की ओर आकृष्ट होता है, अर्थात् उसमें बहिर्मुख-भाव का उदय होता है। इस समय वह 'प्राण प्रमाता' नाम से सम्बोधित होता है।

प्राण क्या है? किञ्चित् चलन अथवा स्पन्दन का प्रथम प्रसर। संवित् या चैतन्य-शक्ति शून्यता को स्फुटित कर प्राण-रूप धारण करती है। वास्तव में बुद्धि के आविर्भाव के पूर्व ही प्राण का उल्लास घटित होता है क्योंकि अन्तःकरण-तत्त्व सारभूत प्राण का आश्रय लेकर, आत्म-प्रकाश करने में समर्थ होता है। जीव की स्वाधिष्ठित भूमि के तारतम्य से उसके साधन-प्रकार का तारतम्य घटित होता है। निम्नतर स्तर की आत्मा में जीव-भाव प्रबल होने के कारण जीव के आधार-निष्ठ वैचित्र्य के अनुसार उसका साधन-वैशिष्ट्य भी स्वाभाविक है।

अतएव प्रमाण-भूमि में उच्चारण, बुद्धि-भूमि में ध्यान एवं देह-भूमि में करणादि, उपाय-रूप में परिगणित होते हैं। उच्चारणादि अन्तरङ्ग उपाय हैं। ध्यानादि को उसकी तुलना में बहिरङ्ग समझना चाहिए। प्राणादि जड़ और अपारमार्थिक होने पर भी उनके उच्चारणादि पारमार्थिक स्वरूप-प्राप्ति में सहायक होते हैं क्योंकि प्राणादि प्रमाता में अहन्ता स्थित है। अतः ज्ञातृत्व और कर्तृत्व-रूप

परम ऐश्वर्य विकल्प-रूप में उपस्थित हो सकता है। शून्य प्रमाता में भी इसी प्रकार ऐश्वर्य का प्रभाव सम्भव है, किन्तु प्राणादि-प्रमाता में जिस प्रकार अवच्छेद नियत है, शून्य-प्रमाता में उसी प्रकार का कोई अवच्छेद नहीं है। अतः वह विकल्पित नहीं हो सकता एवं परमार्थ-प्रकाश के निमित्त भी नहीं हो सकता।

प्रश्न उठता है कि प्राणादि जड़ होने पर भी यदि उनके व्यापार पारमार्थिक स्वरूप-प्राप्ति के निमित्त सहायक हो सकते हैं, तो घट-पटादि बाह्य जड़ पदार्थ का व्यापार भी उसी तरह सहायक क्यों नहीं हो सकता ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि प्राणादि जड़ और चित् दोनों ही धर्म-विशिष्ट हैं। मायिक सृष्टि-विकाश के समय परमेश्वर स्वेच्छा से बाहर अवभासित भाव-राशि के मध्य प्राणादि किसी-किसी जड़ पदार्थ में स्वगत अहन्तात्मक कर्तृत्व को अभिषिक्त कर ग्राहक-रूप में उसकी रचना करते हैं, किन्तु घट-पटादि जड़ पदार्थ को इदन्ता के विषयीभूत कर चिद्-रूपता को ग्राह्य-रूप में प्रकट करते हैं। इसीलिये प्राणादि जड़ होने पर भी चित् ही हैं। जीव जब चिद्रूप जड़ प्राणादि के जड़ात्मक भाव का आच्छादन कर अर्थात् उसमें अहन्ता अभिमान को अभिभूत कर स्वातन्त्र्य के उल्लास से अकृत्रिम पूर्णाहन्ता के रूप में स्वयं को अनुभव करता है, तब वह जीव नहीं रह जाता—वह परमात्मा से अद्वय हो जाता है एवं संविद्-रूप में स्फुरित होता है।

"नाद-तत्त्व" को समझने के लिये पूर्व-वर्णित तीन साधनों में से प्राण-गत उच्चारण का रहस्य सम्यक् प्रकार से जानना होगा। प्राण का स्वाभाविक धर्म हो उच्चारण है। इसकी दो वृत्तियाँ हैं— प्रथम सामान्य या स्पन्दनात्मक और भेद-हीन एवं द्वितीय है विशिष्ट, जो प्राणादि भेदों सहित पाँच प्रकार की है। सामान्य वृत्ति ही विशिष्ट वृत्ति की नींव है—आधार है। जीव के द्वारा देह को आत्मसात् किया हुआ है, अतएव देह अचेतन होने पर भी चेतन प्रतीत होती है।

प्राणात्मक उच्चारण में एक अव्यक्त ध्वनि निरन्तर स्फुरित होती रहती है। इसी को अनाहत नाद कहते हैं। यह नाद प्राणि मात्र के हृदय में सदा सहज चलता रहता है। इसका कोई कर्त्ता नहीं है एवं कोई प्रतिरोधक भी नहीं है। अविभक्त भाव से सभी वर्ण इसमें विद्यमान रहते हैं—यही वर्णोत्पत्ति का मूल है। अतएव यह भी 'वर्ण'—पद से वाच्य है। अनाहत नाद की मुख्य अभिव्यक्ति के स्थान 'दो' बीज हैं— १. सृष्टि-बीज 'स' कार और २. संहार-बीज 'ह' कार। इन दो बीजों का आश्रय लेकर ही 'नाद' अभिव्यक्त होता है। प्राण के आदि मूल का अनुसन्धान करने से चिदाकाश का प्रथम स्पन्दन अनुभव में आता है। चिदाकाश का स्पन्दन परम पुरुष और परमा प्रकृति की योगावस्था से उद्भूत होता है। बिन्दु-युक्त 'ह' कार (हं) परम-पुरुष का और विसर्ग-युक्त 'स' कार (सः) परमा प्रकृति का वाचक है।

उभय की युक्तावस्था ही आदि 'हंस' का रूप है। इस आदि प्राण को ही 'संवित्' का प्रथम परिणाम कहते हैं। हमारे शरीर में श्वास-प्रश्वास का खेल यही हंस-रूपी 'प्राण' करता है। 'हं' कार बहिर्मुख गति है, जो अनन्त की ओर गति-शील है और 'सः' कार अन्तः-प्रवेश या देह में प्रत्यावर्त्तन को सूचित करता है। इस गतागति का नियामक है त्रिगुणस्थ ईश्वर और मूल में है कुलाकुल-अवस्थित परमहंस। यही अजपा मन्त्र है, जिसका जप प्रत्येक व्यक्ति अहोरात्र में २१,६०० बार करता रहता है।

[क्रमशः]

भगवान् शङ्कराचार्य विरचित—

मीनाक्षी पञ्च-रत्न स्तोत्र

(हिन्दी अर्थ सहित)

अनुवादक : श्री शिवचरणलाल महावीर चौरसिया, नागपुर (महाराष्ट्र)

भगवत्-पाद आद्य शङ्कराचार्य ने संस्कृत भाषा में 'मीनाक्षी पञ्चरत्न-स्तोत्र' की रचना कर 'शाक्त-समुदाय' को बहुत ही सरल शब्दों में समझाते हुए कहा है :

ॐ उद्यद्भानु-सहस्र-कोटि-सदृशां केयूर-हारोज्ज्वलाम्,
बिम्बोष्ठीं स्मित-दन्त-पंक्ति-रुचिरां पीताम्बरालंकृताम् ।
विष्णु-ब्रह्मा-सुरेन्द्र-सेवित-पदां तत्त्व-स्वरूपां शिवाम्,
मीनाक्षीं प्रणतोऽस्मि सततमहं कारुण्य-वारां निधिम् ।।१

अर्थात्—अनन्त-कोटि ब्रह्माण्ड-नायिका षोडशी परा-भट्टारिका राज-राजेश्वरी मीनाक्षी देवी के रक्त-वर्णिम शरीर से प्रकट होनेवाली, रक्त-वर्णिम किरणें, ऐसी प्रतीत हो रही हैं मानो कोटि-कोटि बाल-सूर्य अपनी रक्त-वर्णिम किरणों के साथ उदय हो रहे हैं। उनकी भुजाएँ रत्न-जटित स्वर्ण के बाजू-बन्दों से सुसज्जित हैं। रत्न-जटित मणियों की माला उनके सुन्दर कण्ठ की शोभा बढ़ा रही है। शरीर पर धारण किये हुए अन्य आभूषणों की जगमगाहट चारों ओर बिखरी हुई है। उनके सुन्दर मुस्कान-युक्त ओष्ठ, पके हुए बिम्बा-फल के समान रक्त-वर्णिम हैं। रक्त-वर्णिम ओष्ठों के मध्य में स्थित मोतियों के समान स्वच्छ दन्त-पंक्तियाँ, उनकी मन्द-मुस्कान से मनोहारी प्रतीत हो रही हैं। सुन्दर पीत-वस्त्र उनकी अङ्ग-कान्ति को निखारे हुए हैं। तत्त्व-स्वरूपा एवं सर्व-गुण-सम्पन्ना मीनाक्षी देवी की सेवा में ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र इत्यादि देवता तत्पर हैं। समस्त देवों द्वारा सेविता करुणा-मयी मीनाक्षी देवी के श्रीचरण-कमलों में मैं श्रद्धा-पूर्वक सष्टाङ्ग प्रणाम कर रहा हूँ। वे अपनी करुणा-मयी दृष्टिसे मुझे कृतार्थ करें।

मुक्ता-हार-सत्-किरीट-रुचिरां पूर्णेन्दु-वक्त्र-प्रभाम्,
शिञ्जन्-नूपुर-किङ्किणी-मणि-धरां पद्म-प्रभां भासुराम् ।
सर्वाभीष्ट-फल-प्रदां गिरि-सुतां वाणी-रमा-सेविताम्,
मीनाक्षीं प्रणतोऽस्मि सततमहं कारुण्य-वारां निधिम् ।।२

अर्थात्—भगवती मीनाक्षी का मुखारविन्द शरद्-पूर्णिमा की सोलह कलाओं से युक्त पूर्ण-चन्द्र के समान सुन्दर एवं आकर्षक है। मोतियों की झालरों से सुशोभित मुकुट, उनके सुन्दर मुखड़े की कान्ति को अद्वितीय मनोहारी बनाये हुए हैं। मीनाक्षी देवी ने अपने सुन्दर युगल चरण-कमलों में छोटे-छोटे घुँघरुओं से सुसज्जित पायजेब एवं मन को मोहनेवाली दुबली-पतली कमर में नन्हें-नन्हें घुँघरुओं से युक्त स्वर्ण की करधनी तथा अन्य अङ्गों पर रत्न-जटित आभूषण धारण किये हैं। पायजेब और करधनी में जड़े नन्हें-नन्हें घुँघरुओं के आपस में टकराने से मधुर एवं कर्ण-प्रिय ध्वनि प्रतिध्वनित हो रही है।

उनकी अङ्ग-कान्ति नैसर्गिक रक्त-वर्ण कमल के समान सुशोभित है। भगवती अपने उपासकों को प्रसन्न-मुद्रा में फल प्रदान करती हैं। उस समय उनके मुख पर मन्द मुस्कान खेलती रहती है। गिरि-राज हिमालय-कन्या मीनाक्षी देवी की सेवा में, स्वयं सरस्वती और लक्ष्मी सदा तत्पर रहती हैं। मीनाक्षी देवी के चरण-कमलों में मैं निरन्तर प्रणाम करता हूँ। वे अपनी करुणा-पूर्ण दृष्टि से मुझे कृतार्थ करें।

श्रीविद्यां शिव-वाम-भाग-निलयां ह्रींकार-मन्त्रोज्ज्वलाम्,
श्रीचक्राङ्कित-विन्दु-मध्य-वसतिं श्रीमत्-सभा-नायिकाम्।
श्रीमत्-षण्मुख-विघ्न-राज-जननीं श्रीमज्जगन्मोहिनीम्,
मीनाक्षीं प्रणतोऽस्मि सततमहं कारुण्य-वारां निधिम्॥३

अर्थात्--श्री मीनाक्षी देवी स्वयं विद्या की परा-कला हैं। श्रीविद्या में ज्ञान और कर्म इन दोनों का अन्तर्भाव है। श्रीविद्या की प्राप्ति ही मोक्ष की प्राप्त है। श्रीविद्या-स्वरूपिणी मीनाक्षी देवी भगवान् शिव के वाम-भाग में विराजमाना हैं। 'ह्रीं' वीज ही उनका मूल स्वरूप है। मीनाक्षी देवी श्रीयन्त्र के मध्य बिन्दु में स्थित सहस्र-दल कमल पर विराजमान रहती हुई, अपने उपासकों को जिस समय फल प्रदान करती हैं, उस समय उनके कमल के समान खिले मुख पर मन्द-मन्द मुस्कान खेलती रहती है। समस्त देवताओं पर शासन करनेवाली मीनाक्षी देवी का स्थायी निवास-गृह श्रीयन्त्र के सर्वानन्द-मय चक्र का केन्द्र-बिन्दु है। वे इसी स्थान से सम्पूर्ण सृष्टि में निवास करनेवाले मानवों और देवताओं द्वारा किये जाने वाले कार्यों का निरीक्षण करती हुई उन्हें नियन्त्रित कर रही हैं। इसी कारण उन्हें श्रीमत् सभा-नायिका कहा गया है। सम्पूर्ण सृष्टि को अपनी मोह-माया से व्याप्त करनेवाली मीनाक्षी देवी स्वामी कार्तिकेय एवं श्री गणेश जी की माता कही गई हैं। महा-माया मीनाक्षी देवी के चरण-कमलों में मैं अन्तःकरण से साष्टाङ्ग प्रणाम करता हूँ। वे अपनी करुणा-मयी दृष्टि से मुझे कृतार्थ करें।

श्रीमत्-सुन्दर-नायिकां भय-हरां ज्ञान-प्रदां निर्मलाम्,
श्यामाभां कमलासनार्चित-पदां नारायणस्यानुजाम्।
वीणा-वेणु-मृदङ्ग-वाद्य-रसिकां नाना-विद्यामम्बिकाम्,
मीनाक्षीं प्रणतोऽस्मि सततमहं कारुण्य-वारां निधिम्॥४

अर्थात्--गिरि-राज हिमालय की सर्व-गुण-सम्पन्ना एवं सर्वाङ्ग-सुन्दरी कन्या मीनाक्षी देवी सृष्टि के समस्त देवताओं और जीव-प्राणियों की नायिका हैं। मीनाक्षी देवी अपने उपासकों को भय से मुक्त कर शुद्ध और निर्मल ज्ञान प्रदान करती हैं तथा उनके अन्तःकरण को पवित्र और निर्मल रखती हैं। श्याम आभावाली मीनाक्षी देवी के चरण-कमलों में स्वयं भगवान् विष्णु अपने कर-कमलों से अर्चना करते हैं। उन्हें वीणा, वेणु, मृदंग इत्यादि वाद्य अति प्रिय हैं। स्वयं सरस्वती जी उक्त वाद्यों सहित उनकी सेवा में उपस्थित रहकर वाद्यों की सुमधुर एवं कर्ण-प्रिय झंकार से मीनाक्षी देवी को प्रसन्न रखती हैं। सङ्गीत-रसिका मीनाक्षी देवी के चरण-कमलों में मैं श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक प्रणाम करता हूँ। वे अपनी करुणा-मयी दृष्टि मुझ पर सदा बनाये रखें।

नाना-योगी-मुनीन्द्र-हृत्सु वसतीं नानार्थ-सिद्धि-प्रदाम्,
नाना-पुष्प-विराजितांघ्रि-युगलां नारायणेनार्चिताम् ।
नाद-ब्रह्म-मयीं परात्पर-तरां नानार्थ-तत्वात्मिकाम्,
मीनाक्षीं प्रणतोऽस्मि सततमहं कारुण्य-वारां निधिम् ।।५

अर्थात् नाना प्रकार के श्रेष्ठ और मुनि योगी-जनों के वक्षःस्थल में मीनाक्षी देवी स्वयं निवास करती हैं और उन्हें नाना प्रकार की सिद्धियाँ प्रदान करती हैं। स्वयं भगवान् विष्णु मीनाक्षी देवी के चरण-कमलों में नाना प्रकार के सुगन्धित पुष्पों से नित्य अर्चना करते हैं। मीनाक्षी देवी स्वयं नाद-रूपा हैं। वे ही परम सूक्ष्म, निर्गुण और निराकार ब्रह्म हैं। वे समस्त देवता की नायिका हैं। सृष्टि के समस्त दृश्य-अदृश्य, जड़-चेतन इत्यादि पदार्थों में वे सार-स्वरूप में विद्यमान हैं। तत्त्व-स्वरूपा मीनाक्षी देवी के चरण-कमलों में मैं निरन्तर प्रणाम करता हूँ। वे सदा अपनी कृपा-दृष्टि से मुझे आच्छादित करें।

(पृष्ठ ३ का शेषांश)

को उत्पन्न किया और उन्हें सौंप दिया। उन्होंने एक रत्न-जटित वायुयान उत्पन्न किया, जो इच्छा मात्र से किसी भी अभीष्ट स्थान में तुरन्त पहुँचाने में सक्षम था और उन सबको दे दिया। वह विमान इच्छानुसार अपने को बड़ा या छोटा करने में समर्थ था। शिव ने उन्हें एक चक्र और एक सिंह-वाहन भी दिया। यह सब देने के बाद शिव ने उनसे कहा--

'तुम लोगों ने बहुत ही कठोर तप और यज्ञ किया है, जिससे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। तुम अन्य कोई वर, जो चाहो, माँग सकते हो—

सुरपद्म ने शिव को प्रणाम किया और कहा--'हे देव-देव ! हमें यह वर दें कि हम केवल उस शक्ति को छोड़कर, जो आप में विद्यमान है, जिसके द्वारा आप समस्त कर्म करते हैं और जिसके द्वारा आपने हमें ये सब वरदान दिए हैं, अन्य किसी साधन द्वारा नष्ट न हों। जब तक आपकी शक्ति स्वरूप धारण कर हमें न मारे, तब तक हम किसी अन्य के द्वारा मारे न जा सकें।'

शिव ने आशीर्वाद दिया—'तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो।' यह कहकर वे अन्तर्धान हो गये।

"इस प्रकार उक्त वरदानों के कारण उन्हें किसी अन्य साधन द्वारा नष्ट करना सम्भव नहीं है। शिव में विद्यमान शक्ति को शिव-कुमार के रूप में अवतार लेना चाहिए। वह शिव-कुमार देवों का सेनाधिपति होगा और उन असुरों को नष्ट करेगा। शिव-कुमार के जन्म के लिए शिव को पार्वती से विवाह करना होगा किन्तु दाक्षायणी ने जब से अपने शरीर की आहुति दी है, तब से शिव सर्वथा विरक्त होकर ललिताम्बिका की निःस्पृह तपस्या में निमग्न हैं। वे स्त्रियों की निकटता तक से घृणा करते हैं। तथापि, तुम लोगों के भाग्य से, हिमवान ने अपनी पुत्री पार्वती को दानु आश्रम में परम शिव की सेवा में नियुक्त कर दिया है, किन्तु सुन्दरता की साक्षात् प्रति-मूर्ति वह देवी जब उनकी सेवा करती है, तब वे उस पर दृष्टि-पात तक नहीं करते। उससे बात करना दूर रहा। तुम लोगों को प्रयत्न करना होगा कि परम शिव उससे प्यार करें और उससे विवाह करें। तुम्हें त्रिनेत्र शिव के विरक्त मन को मन्मथ की सहायता से आसक्त बनाना होगा। यही एकमात्र उपाय है शिव-कुमार के जन्म का और उसके द्वारा सुरपद्म तथा उसके दल के विनाश का।"

यह बताकर ब्रह्मदेव ने देवों को विदा किया। देव-गण वहाँ से इन्द्र-नगर अमरावती में जा पहुँचे।

(क्रमशः)

भगवती श्रीविद्या के अनन्य भक्त का एक संक्षिप्त परिचय—

पूज्य-पाद श्री हंसचरण अमृतेश भट्टारक

पं० वेणीमाधव त्रिपाठी, सचिव, मुम्बई शाक्त सम्मेलन, मलाड, बम्बई

पूज्य-पाद गुरु-वर्य श्री हंसचरण अमृतेश भट्टारक का जन्म–दिनाङ्क १५ जनवरी सन् १९१४ ई० को तमिलनाडु में, प्रसिद्ध कोर्टाल्लम झरनों के पास, तीन काशी रेल्वे-स्टेशन के निकट इलापुर ग्राम में, 'हरित गोत्र' के एक अय्यर ब्राह्मण परिवार में हुआ था। आपके पिता जी 'श्री कृष्ण अय्यर' एक प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् तथा वेद-माता गायत्री के अद्वितीय उपासक एवं गाँव के बड़े भू-खण्ड के स्वामी थे। आपका नाम 'राम' रखा गया। दक्षिण भारतीय पद्धति के अनुसार, पहले पिता का नाम, तब स्व-नाम उसके बाद जाति-गत नाम होता है। इसके अनुसार आपका नाम 'श्री कृष्ण राम अय्यर' पड़ा।

आपके गाँव 'इलापुर' के पास एक 'शिव-मन्दिर' है, जो "मधुनाथ ईश्वर" के नाम से विख्यात है। मुनि अगस्त्य के द्वारा इस 'शिव-लिङ्ग' की स्थापना की गई थी। लगभग १०० साल पहले गाँव-वालों ने इस मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था।

बचपन से ही बालक राम अय्यर का लगाव धार्मिकता की ओर था। नौ वर्ष को अल्पायु से ही, आपने देवी-देवताओं की पूजा एवं स्तोत्रादि का पाठ करना प्रारम्भ कर दिया था। धार्मिक कार्यों में अधिक रुचि लेने लगे थे। रामायण, महा-भारत, श्रीमद्–भागवतादि ग्रन्थों के पारायण प्रारम्भ कर दिए। ग्यारह साल की उम्र में, आपका यज्ञोपवीत संस्कार एक महान् श्रीविद्योपासक तथा महाराज त्रिवनकोट के महा-मन्त्री श्री स्वामी रामास्वामी शास्त्रीङ्गल द्वारा किया गया। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा आपके जन्म-स्थान में ही इंग्लिश हाई-स्कूल से प्रारम्भ हुई।

१८ साल की उम्र में आप गाँव से मद्रास शहर में आ गये और एक बाल-पुस्तक-प्रकाशन-संस्थान में 'सम्पादक' का कार्य करने लगे। १९ साल को आयु में आप 'गोबर्धन-मठ'—पुरी के महा-पूज्य श्री शङ्कराचार्य जी के सम्पर्क में आए और तीन महीने तक श्रीमद्–भगवद् गीता पर प्रवचन सुने। जब आपने उक्त विषय पर स्वयं एक लेख-माला लिखकर स्वामी शङ्कराचार्य जी को दिखाई, तब स्वामी जी बहुत प्रसन्न हुये। स्वामी जी आपको अपना मन्त्री बनाकर अपने साथ रखना चाहते थे, लेकिन आपके पिता जी ने आपको स्वामी जी के साथ जाने से मना कर दिया।

सन् १९३३ में आप एक श्रीविद्योपासक 'श्री सप्तशती-आनन्द' के सम्पर्क में आये। ये श्री सप्तशती आनन्द, एक बाल-ब्रह्मचारी योगी थे। भगवती दुर्गा के परम भक्त तथा सदैव 'श्रीदुर्गा-सप्तशती' का ही पाठ करते रहते थे, इसलिये इनका नाम 'सप्तशती-आनन्द' पड़ा था। ये सप्तशती-आनन्द कौलावधूत, शिव-स्वरूप 'श्री हंस गायत्री आनन्दनाथ' के पट्ट शिष्य थे।

श्री सप्तशती-आनन्द जी की आज्ञानुसार आपने "जंय श्रीमात्रे नमः" का सतत जप प्रारम्भ किया। तीन साल बीतने पर, मद्रास में सन् १९३६ के नवरात्र-पूजन की समाप्ति पर, रात्रि के दो बजे भगवती ने आपको दर्शन दिया था, जिससे आप धन्य हो गये।

कालान्तर में आप कौलावधूत श्री हंस गायत्री आनन्दनाथ के सम्पर्क में आये, जिन्हें लोग "स्वामी जी" के नाम से सम्बोधित करते थे। 'स्वामी श्री हंस गायत्री आनन्दनाथ जी' ने, श्री राम

अय्यर में अलौकिक दिव्य गुण देखकर, इन्हें अपना शिष्य बना लिया तथा 'स्वामी' जी के आदेशानुसार आपने एक करोड़ नवार्ण मन्त्र का जप पूर्ण करके, सन् १६५५ के शरद-नवरात्रोत्सव में माटुंगा (मुम्बई) में 'शत-चण्डी महा-यज्ञ' का आयोजन किया, जो सोत्साह निर्विघ्न संपन्न हुआ।

इसके बाद आप मुम्बई के माटुंगा क्षेत्र में "पूजा रामाय्यर" के नाम से प्रसिद्ध हुए। "कौलावधूत श्री स्वामी जी" द्वारा आपको उच्च-कोटि की यौगिक दीक्षा मिली, जिसकी भी अलग एक कहानी है। हुआ यह कि दीक्षा-काल में उचित कर्म-काण्ड के पश्चात् स्वामी जी आपको एक अलग कमरे में ले गये। स्वामी जी ने अपनी दाहिनी हथेली आपको देखने के लिए कहा। उनकी हथेली से अलौकिक आभा प्रस्फुटित हो रही थी। उस प्रकाश के मध्य, आपको आञ्जनेय श्री हनुमान जी का विराट् स्वरूप दिखाई पड़ा। गदा-धारण किये हुये, स्वर्ण पर्वत-सदृश, आदि-अन्त-रहित पवन-पुत्र का स्वरूप आपको देखने को मिला। फिर स्वामी जी ने थोड़ा ऊपर देखने को कहा, तो भगवती आद्या महा-कालिकाम्बा का कज्जल-गिरि-सम विराट् स्वरूप दिखाई पड़ा। एक हाथ में तलवार, दूसरे में रुधिर-युक्त मुण्ड, तीसरे में वर एवं चौथे में अभय-मुद्रा धारण किये हुये थीं। गले में मुण्डों की माला पहने, मुस्कान-युक्त वर्णनातीत मुख-मण्डल था उनका।

दीक्षोपरान्त श्री रामाय्यर जी ने स्वामी जी से 'संन्यास-दीक्षा' लेकर उनके साथ ही रहने की इच्छा प्रकट की, लेकिन स्वामी जी ने ऐसा करने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। स्वामी जी ने कहा कि—'तुम गृहस्थाश्रम में ही रह कर 'माँ' की उपासना करो और अन्य योग्य व्यक्तियों को भी 'शक्ति-उपासना' में प्रवृत्त करो।' इतना ही नहीं, मई सन् १६३६ में, मदुराई में श्री रामाय्यर जी की शादी के शुभ-अवसर पर श्री स्वामी जी तथा श्री सप्तशती-आनन्द जी भी वर-वधू को शुभाषीश देने पधारे थे।

पूज्य-पाद स्वामी श्री परमहंस गायत्री आनन्दनाथ महाराज ने ८ जून सन् १६४५ को महा-समाधि ली। उसके पश्चात् श्री रामाय्यर जी ने ५ सितम्बर सन् १६४५ को स्वामी जी की याद में "श्री हंस गायत्री आनन्द सत्संग" नामक संस्था का गठन किया। इस संस्था के माध्यम से सैकड़ों गृहस्थों को श्रीविद्या-उपासना में प्रवृत्त किया। प्रत्येक रविवार को तान्त्रिक एवं वैदिक विषयों पर प्रवचन, पूर्णमासी के दिन श्रीयन्त्रार्चन, शारदीय एवं वसन्त नवरात्रोत्सव, चण्डी-यज्ञ, हवन तथा अन्य पर्वों पर श्रीयन्त्रार्चन एवं गोष्ठी इत्यादि कार्य-क्रम पिछली पाँच दशाब्दियों से अनवरत रूप से होते आ रहे हैं। पूज्य-पाद गुरुवर्य श्री रामाय्यर जो प्रत्येक शुक्रवार को श्रीयन्त्रार्चन सपरिवार वर्षों से करते आ रहे हैं।

सद्-गुरु श्री स्वामी जी द्वारा, आपको दर्शन एवं मार्ग-दर्शन समय-समय पर मिलता रहता है। उनमें से एक घटना का उल्लेख कर देना आवश्यक समझता हूँ। स्वामी जी ने इन्हें झरनों से शोभित कैलाश कोनाइ पर्वत पर जाकर, श्री देवीनाथ जी द्वारा श्रीविद्या की महा-पूर्णाभिषेक दीक्षा लेने का आदेश दिया। यह पर्वत मद्रास-तिरुपति राज-मार्ग पर अराकोनम के पास स्थित है। आपने अपने छोटे भाई के साथ वहाँ जाकर १३ मई सन् १६५७ को कौल-मार्गानुसार 'महा-पूर्णाभिषेक' की दीक्षा प्राप्त की। दीक्षोपरान्त आपका नाम "अमृतेश भट्टारक" पड़ा। लेकिन श्रीविद्योपासकों में आप—'हंस चरण अमृतेश भट्टारक' नाम से ही जाने जाते हैं। आपके पूर्णाभिषेक-गुरु श्री देवीनाथ जी 'ईश-भट्टारक' के नाम से जाने जाते थे, जिन्होंने मद्रास में 'महती-मण्डल' की स्थापना की थी। इस मण्डल के माध्यम

से शताधिक व्यक्तियों को श्री-विद्या की उपासना में पारङ्गत किया गया था तथा श्रीविद्योपासना का प्रचार-प्रसार किया गया।

पूज्य-पाद गुरुवर्य श्री रामाय्यर जी वर्षों से अनेक यज्ञों का भी आयोजन करते आ रहे हैं, जिनमें नव-चण्डी, शत-चण्डी, महा-गणपति, बालाम्बिका, दुर्गा, त्रिपुर-सुन्दरी, शिव-शक्ति, श्री ललिता कोटि-अर्चन, नाम-सङ्कीर्तन, भजन इत्यादि उल्लेखनीय हैं। गृहस्थाश्रम-धर्म का पालन करते हुये, इस भौतिक-वादी मुम्बई नगरी में भी, सम्पूर्ण रूप से जगदम्बा की ही सेवा में समर्पित, चौबीसों घण्टे भगवती के ही नाम, रूप में संलग्न—ऐसा व्यक्तित्व आज के युग में सर्वथा दुर्लभ ही है। सुडौल-स्थूल शरीर, गौर-वर्ण, उन्नत-विशाल मस्तिष्क, मुख-मण्डल पर अलौकिक आभा का प्रकाश जो भी एक बार दर्शन कर लेता है, वह बलात् आपकी ओर आकर्षित हो जाता है। आप मनुष्य-देह में ऋषित्व एवं देवत्व को पार कर शिव-स्वरूप हो चुके हैं। ऐसे सद्-गुरु को शत-शत प्रणाम।

अन्त में एक छोटी-सी घटना का उल्लेख कर देना उचित होगा, जिससे आपके अलौकिक व्यक्तित्व का आभास होता है। पं देवीदत्त जी शुक्ल 'जन्म-शताब्दी-समारोह' कार्य-क्रम के अवसर पर, दादर, मुम्बई में 'शाक्त-सम्मेलन' का आयोजन, गत-वर्ष १६ एवं १७ अप्रैल, सन् १९८८ को किया गया। 'शाक्त-सम्मेलन' का सभापतित्व श्री रामाय्यर जी ने किया और मुख्य अतिथि थे 'चण्डी' के मानद सम्पादक पूजनीय पं० रमादत्त शुक्ल। इन दो महान् विभूतियों का सर्व-प्रथम मिलन इसी समय हुआ। दोनों व्यक्ति एक दूसरे को दूर से ही देखकर दौड़ कर एक दूसरे के गले से लिपट गये। नेत्र अश्रु-पूरित थे, ऐसा लगा जैसे दो घनिष्ठ मित्र वर्षों बाद मिल रहे हों। सभा-मण्डप का दृश्य बदल गया और चारों ओर प्रेमोल्लास छा गया। अन्य उपस्थित व्यक्ति भी भाव-विभोर हो गये। क्यों न हो ऐसा क्योंकि माँ के दो महान् पुत्रों का मिलन था जो।

आदरणीय, पूज्य-पाद गुरु-वर्य श्री रामाय्यर जी ने पं० रमादत्त जी शुक्ल को अपने निवास-स्थान माटुंगा आने का आमन्त्रण दिया एवं मुझे निर्देश दिया कि कल शाम को सात बजे श्री शुक्ल जी को लिवा कर आ जाना। मैंने हाथ जोड़कर आज्ञा शिरोधार्य की। दूसरे दिन शाम को ६ बजे श्री शुक्ल जी को लेकर मालाड (मेरे निवास-स्थान) से हम लोग माटुंगा के लिये रवाना हुये। मार्ग में सप्तशती एवं नवार्ण-मन्त्र पर श्री शुक्ल जी की अमृत-मयी वाणी से हम लोग लाभान्वित हुये। मालाड से माटुंगा की तरफ जैसे-जैसे टैक्सी बढ़ती जाती थी, वैसे-वैसे श्री शुक्ल का स्वर धीमा होता जाता था। मैं समझ रहा था कि श्री शुक्ल जी थक गये हैं, क्योंकि उसी दिन हम लोग श्री शुक्ल को साथ लेकर मुम्बा देवी, कालबा देवी इत्यादि स्थानों पर दर्शन करने गये थे। धीरे-धीरे टैक्सी माटुंगा गुरु जी के निवास के सामने आकर रुकी। गुरु जी के यहाँ पहुँच कर श्री शुक्ल जी का आते ही आदर-सत्कार किया गया। गुरु-वर्य श्री रामाय्यर जी ने, श्रीशुक्ल जी से किसी विषय पर अपनी अमृत-मयी वाणी से पूरे परिवार को लाभान्वित करने का आग्रह किया।

इस पर श्री शुक्ल जी ने कहा, 'महाराज ! "माँ" की आज्ञा है कि आपके मुखारविन्द से मैं कुछ सुनूँ। देखिए, ज्यों-ज्यों मैं आपके निवास-स्थान की ओर आता गया, मेरी आवाज धीमी होती गई, अतः कृपया आप ही अमृत-वाणी की वर्षा कर सबको आनन्दित करिए।' श्री शुक्ल जी की यह बात सुन कर मैं तो दङ्ग रह गया, और तब जान पाया कि श्री शुक्ल जी का स्वर धीमा होने का कारण थकावट नहीं बल्कि कुछ और ही था।

(शेष पृष्ठ २३ के नीचे)

'सद्-गुरु' की कृपा

का

सिंहावलोकन

श्रीशिव-शङ्कर श्रोत्रिय, पो० माण्डल, जिला भीलवाडा (राजस्थान)

देखे-ऽ-रे, दे-ऽ-खे, अजब तमाशा,
अघोर भैरव[१] दे--खे--रे--ऽ !

(१)

ज्ञान भैरवी, डमरु निनादे, डाकिनी ढोलक कूटे रे,
लाकिनी नाल मृदङ्ग थपावे, राकिनी सिल-बट्ट रगड़े रे,
याकिनी बाँसुरी वादन करती, शाकिनी शङ्ख गुँजावे रे,
इकतारा काकिनी का बोले, हाकिनी हंसी गावे रे,
देखे-ऽ-रे, दे-ऽ-खे, अजब तमाशा, अघोर भैरव देखे-रे-ऽ !

(२)

प्राणेश्वरी[२] मन्थर हो थिर के, कामाख्यायी[३] उझके रे,
योगीशी,[४] भग-मालिनी,[५] भैरवी,[६] सामरस्य[७] को गूँथे रे,
कौमारी,[८] भुवनेश्वरी,[९] खेचरी[१०], मदिरा-कलश[११] घुमावे रे,
सोन-परी आनन्द - भैरवी[१२], ताण्डव लास रचावे रे,
देखे-ऽ-रे, दे-ऽ-खे अजब तमाशा, अघोर भैरव देखे-रे-ऽ !

(३)

डेढ़ हाथ के रंग-मंच[१३] बिच, उत्पत्ति-स्थिति-लय[१४] ताके रे,
गणपति[१५], मन्मथ[१६], हनुमान[१७], यम[१८] प्रतिहारी बन दौड़े रे,

---

(पृष्ठ २२ का शेषांश)

आदरणीय परम पूज्य श्री शुक्ल जी ने बताया, वस्तुतः गुरु-वर्य श्री रामाय्यर जी अलौकिक गुणों से युक्त 'माँ' के परम प्रिय पुत्र हैं। ये सामान्य व्यक्ति नहीं हैं। ये 'राष्ट्र-गुरु' हैं। मैं भी स्वयं को, ऐसे महान् गुरु की कृपा प्राप्त कर, अति ही भाग्यशाली एवं धन्य मानता हूँ। पचहत्तर साल से सतत माँ की सेवा में लगे हुये हैं तथा 'शक्ति-उपासना' का मार्ग समाज को दिखाकर, समाज का जो उपकार कर रहे हैं, वह अद्वितीय एवं अनुकरणीय है। हम शिष्य-वर्ग जगज्जननी से यही प्रार्थना करते हैं कि आप चिरञ्जीवी हों और मुझ जैसे असहाय अकिंचन पर सदा ही कृपा करते रहें। ऐसे शिव-स्वरूप महान् गुरु को लक्ष-बार प्रणाम !

१०१ ए, गौतमनगर, दत्त मन्दिर मार्ग मालाड (पूर्व), मुम्बई—९७

अग्नि, वरुण, भू, करण-वर्ग[१९] सब, जय-जय-कार करावे रे,
डरल्यक, डरल्यक सरकिट जोड़े, स-हौं भेद मिटावे रे,
देखे-ऽ-रे, दे-ऽ-खे, अजब तमाशा, अघोर भैरव देखे-रे-ऽ !

१ अघोर भैरव। घोर=कठोर, मर्यादा से आबद्ध, अघोर=अमर्यादित। भैरव=भरण (पालन), रवण (एकाकार), वमन (उत्पन्न करनेवाली मूल-शक्ति)। आसक्ति-हीन जीव का भावोन्मेष—'अघोर भैरव' अवस्था कही गई है।

२ प्राणेश्वरी—श्वास-शक्ति। ३ कामाख्यायी—कामना-शक्ति। ४ योगीशी—योग-शक्ति।

५ भग-मालिनी। भग—चिह्न, वर्ण, अक्षर, आकार एवं मालिनो—माला पिरोनेवाली। भग-मालिनी=वर्ण-माला की शक्ति, परा, पश्यन्ती, मध्यमा व वैखरी जिसके क्रमिक सोपान हैं।

६ भैरवी—उन्मेष शक्ति। ७ सामरस्य—अनेकों का, एक ही भाव में, एक साथ लय हो जाना।

८ कौमारी—उमङ्ग-शक्ति। ९ भुवनेश्वरी—भुवन अर्थात् शरीर की शक्ति। १० खेचरी—ब्रह्म-रन्ध्र में चिन्तन को सम्पादित करनेवाली शक्ति। कौमारी-भुवनेश्वरी-खेचरी=देह की वह शक्ति, जो 'जीव-भाव' को अत्यन्त उमङ्ग के साथ 'ब्रह्म-भाव' में लीन रखती है।

११ मदिरा-कलश—एकीकरण का प्रेम-पूर्ण आनन्द। १२ सोन-परी आनन्द-भैरवी—ज्योतिर्मय इच्छा-शक्ति।

१३ डेढ़ हाथ का रङ्ग-मञ्च—मस्तिष्क के साथ जननेन्द्रियों तक फैली रीढ़-स्थित नाड़ियाँ।

१४ उत्पत्ति, स्थिति, लय—ब्रह्म-ग्रन्थि, विष्णु-ग्रन्थि, रुद्र-ग्रन्थि।

१५ गण-पति—श्वासों से खींची जानेवाली वह वायु, जो जननेन्द्रियों, गुदा-द्वार के विकास एवं सङ्कोच से सुषुम्ना में पहुँचाकर, प्राणों के रूप में ऊर्ध्व-गामी कर, ब्रह्म-रन्ध्र में प्रवेश कराई जाती है।

१६ मन्मथ—काम-शक्ति। १७ हनुमान—महा-पवन।

१८ यम-नियम व मर्यादाओं की नियन्त्रण-शक्ति।

विशेष—ब्रह्म-रन्ध्र में प्रविष्ट हुई ऊर्ध्व-गामी प्राण-ऊर्जा की रश्मियों से, मस्तक के अन्दर का भेजा उष्ण होकर जीव को भ्रू-मध्य में सूर्य के समान प्रखर-रूप से जाज्वल्य-मान दिखाई देता है। इस क्रिया से ब्रह्म-रन्ध्र में सञ्चित जन्म-जन्मान्तर के कर्म-संस्कार जल जाते हैं और जीव-भाव मे आत्म-ज्ञान व वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। मूल-द्वार से प्राण-शक्ति को उठाने व ऊर्ध्व-गामी करने में निकट स्थित काम-शक्ति तथा यम-नियम-आसनादि से सहायता प्राप्त होती है।

१९ करण-वर्ग—कर्मेन्द्रियाँ व तन्मात्राओं की वे शक्तियाँ, जो जीव-भाव को अधो-गामिनी वासनाओं की ओर प्रवाहित करती हैं। ये शक्तियाँ—'क, च, ट, त, प' वर्गवाले वर्णों के आश्रित होती हैं। सत्-गुरु के अनुग्रह की अवस्था में ये शक्तियाँ, जीव को फिसला कर नीचे ले जाने के स्थान पर उल्टा सहयोग देकर, उसे 'शिव-तत्त्व' की ओर बढ़ाने में तत्पर हो जाती हैं।

अन्त में गीत की अन्तिम दो पंक्तियों में टी० वी० को ऑपरेट करने के स्विच का संकेत है, जिसको खोलने की चावी 'सद्गुरु' के पास होती है। डाकिनी आदि-षट्-चक्रों की शक्तियों को अर्थात् आन्तरिक 'शक्ति-चक्र' को जागृत कर आत्म-साक्षात्कार के लिये—इन्हें उपयोगी बनाने की क्रियायें अत्यन्त दुरूह एवं कष्ट-साध्य तथा दुर्लभ मानी गई हैं परन्तु यदि किसी जीव-भाव पर 'सद्-गुरु' की कृपा हो जाये, तो जीव-भाव निर्विकार हो जाता है। तब बिना प्रयत्न के ये सभी शक्तियाँ उसके समक्ष—टी० वी० (दूर-दर्शन) के दृश्य के रूप में उपस्थित रहती हैं।

'बिहार शाक्त सम्मेलन' की मासिक गोष्ठी

[मई और जून ८८ की गोष्ठियों का विवरण गताङ्क में प्रकाशित हो चुका है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'सम्मेलन' के कर्मठ सचिव श्री विजय वत्स द्वारा देवघर में भी शाक्त-सम्मेलन की शाखा खोलने का प्रयास किया जा रहा है। अपने उत्साही सहयोगी श्री वीरेन्द्र गिरि के साथ उन्होंने गलमा (दरभंगा) में आयोजित 'मायेर प्रेमी मण्डल' के आयोजन में भाग लिया और सचित्र विवरण भी भेजा, जिसे यथा-सुविधा प्रकाशित किया जायगा। आशा है, बिहार के अन्य जनपदों के शाक्त साधकों का भी सहयोग 'सम्मेलन' को प्राप्त होगा और शाक्त-संगठन का कार्य अभीष्ट प्रगति कर सकेगा।—सं०]

८-७-८८ को 'बिहार शाक्त सम्मेलन' की बैठक सायं साढ़े पाँच बजे प्रारम्भ हुई, जिसकी अध्यक्षता श्री शम्भुशरण श्रीवास्तव ने की। कार्यक्रम का शुभारम्भ परम्परागत गुरु-वन्दना से हुआ।

सर्व-प्रथम पूर्व बैठक की कार्यवाही की सम्पुष्टि की गई। तत्पश्चात् सम्मेलन के संविधान-सूत्रों को सर्व-सम्मति से स्वीकृत किया गया।

आज की बैठक के लिए नियत विषय 'सुखासन/आसन-दृढ़ीकरण' पर विभिन्न वक्ताओं ने अपने विचार व्यक्त किए। 'आसनों' की वैज्ञानिकता को स्पष्ट करते हुए श्री वीरेन्द्र गिरि ने कहा—

"मनुष्यों में परिस्थिति और मनोदशा के अनुसार कुछ स्वाभाविक भङ्गिमाएँ बन जाया करती हैं। अक्सर किसी तनाव-ग्रस्त व्यक्ति को सिर पर हाथ रखे बैठा देखा जाता है। गहरी सोच या अति आकर्षण से टकटकी बँध जाना सामान्य बात है। हमारे प्राचीन विचारकों ने इन भङ्गिमाओं और मुद्राओं का गम्भीर अध्ययन किया और उन्होंने यह पाया कि इन स्वाभाविक भङ्गिमाओं को परिष्कृत स्वरूप देकर इन्हें मन को संयमित, सुस्थिर और एकाग्र करने तथा चित्त को शान्ति, सन्तोष और आनन्द सुलभ कराने में नियोजित किया जा सकता है। ये परिष्कृत विशिष्ट मुद्राएँ ही योग-साधना में आसनों के नाम से जानी जाती हैं।"

विषय की चर्चा को आगे बढ़ाते हुए पं० भास्करानन्द मिश्र ने कहा—

"शाक्त-साधना में कष्ट-दायी आसनों की कोई आवश्यकता नहीं है। शाक्त-साधना में योग अष्टाङ्ग भी नहीं, षडङ्ग ही है क्योंकि यम और नियम, गृहस्थ साधकों के लिए अनिवार्य नहीं हैं। अतएव गृहस्थ साधना 'आसन-कल्प' से प्रारम्भ होती है। आसनों की उपयोगिता मात्र इन्द्रियों को संयमित, मन को स्थिर और प्राण-वायु को नियन्त्रित एवं सन्तुलित बनाने में है। सुयोग्य गुरुओं के निर्देशन में सुखासन, पद्मासन, वीरासन, बद्ध-पद्मासन आदि आसनों की साधना कर लेना दुरूह नहीं है। 'आसन' को स्वाभाविक और अकष्टकर होना चाहिए। 'सुखासन' सर्वोत्तम आसन है।"

अपने अध्यक्षीय उद्बोधन में श्री शम्भुशरण श्रीवास्तव ने कहा कि 'आसन' की साधना में शीघ्रता और मनमानी नहीं करनी चाहिए। इसे नियमित रूप से एक-रूपता-पूर्वक धैर्य के साथ करना ही श्रेयस्कर है। उन्होंने सुखासन, पद्मासन, वीरासन, बद्ध-पद्मासन सहित कई आसनों का प्रायोगिक एवं व्यावहारिक प्रदर्शन करके दिखाया। बैठक धन्यवाद-पूर्वक विसर्जित हुई।

जिज्ञासु के पत्र

श्री जयराम भाई लक्ष्मण भाई भरद्वाज, ज्योतिषी, अहमदाबाद (गुजरात) से पूछते हैं--

प्रश्न १--'लघु चण्डी' श्लोक ५२ में लिखा है कि 'पूजनान्ते बलिं तस्यै निज गात्रासृजं ददत् ।'···क्या यह अनिवार्य और आवश्यक है ?

उत्तर—उक्त श्लोक राजा सुरथ के सम्बन्ध में है। ऐसा ही श्लोक सप्तशती में भी है। देखें 'विशुद्ध चण्डी', पृष्ठ ११४--'ददतुस्तौ बलिं चैव निज-गात्राऽसृगुक्षितम् ।'

यह सुरथ और समाधि दोनों द्वारा अपने शरीर से रक्त की बलि दिये जाने का उल्लेख है। वास्तव में पूजन के बाद 'बलि' देना आवश्यक/अनिवार्य है। सुरथ-समाधि ऐसी स्थिति में थे कि उनके पास कोई वस्तु बलि देने के लिए उपलब्ध नहीं थी। अतः बाध्य होकर उन्हें अपने शरीर का रक्त ही 'बलि'—रूप में देना पड़ा। इससे स्पष्ट है कि अन्य लोगों के लिए अपने शरीर का रक्त देना आवश्यक/अनिवार्य नहीं है। वे अपनी सुविधा के अनुसार पशु, नारियल, कूष्माण्ड आदि की 'बलि' अर्पित कर अपनी पूजा पूर्ण कर सकते हैं।

प्रश्न २--एक प्राचीन ताँबे का यन्त्र है। मध्य में वर्तुल, वर्तुल में स्वस्तिक, ऊपर 'ॐ', नीचे त्रिशूल, दाएँ-बाएँ सूर्य और चन्द्र, चन्द्र के नीचे 'श्री', त्रिशूल-दण्ड के आजू-बाजू 'लक्ष्मी' लिखा है। वर्तुल के बाहर पाँच पंखुड़ियों का कमल है। वर्तुल में दो रेखायें हैं। पंखुड़ियों के बीच क्रमशः १ से १० अंक लिखे हैं। वर्तुल और पंखुड़ी के अन्दर निम्न मन्त्र लिखे हैं—

१ ॐ ऐं ह्रीं ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं चामुण्डायै विच्चे कामधेनु कल्पवृक्ष अष्ट-सिद्धि अथै दैव्य कुबाराय गणायक इसी लक्ष्मी सिद्धि सिद्धि कुरु कुरु स्वाहा।

२ ॐ ऐं ह्रीं ह्रीं श्रीं क्लीं नमः चामुण्डायै विच्चे विच्चे कामधेनु कल्पवृक्ष अष्ट-सिद्धि रीद्धी दैव्य कुबारा है गणायक नायक हस्ति लक्ष्मी रीदी सिधी कुरु कुरु स्वाहा।

उत्तर—इस प्रकार के 'यन्त्र' और तत्सम्बन्धी मन्त्र प्रायः हस्त-लिखित या मुद्रित पुस्तकों में दिखाई देते हैं किन्तु इनकी शुद्धता या प्रामाणिकता पर कुछ कहना सम्भव नहीं है। शोध द्वारा ही इनकी वास्तविकता प्रकट हो सकती है। इसके लिए जिज्ञासु बन्धुओं को 'यन्त्र' की फोटो-प्रतिलिपि भेजनी चाहिए या उसका रेखा-चित्र। शाब्दिक वर्णन से उसका यथार्थ रूप स्पष्ट नहीं होता। इसी प्रकार सम्बन्धित मन्त्रों की भी सही प्रतिलिपि होनी चाहिए। यहाँ जो मन्त्र श्री भरद्वाज ने लिखकर भेजे हैं, स्पष्टतः अशुद्ध ही हैं। 'चण्डी' के किन्हीं पाठक के पास यदि उक्त प्रकार का प्रयोग हो, तो वे उससे मिलाकर इसका शुद्ध रूप लिखकर भेजने की कृपा करें। उसे सधन्यवाद प्रकाशित किया जायगा।

पाठकों के पत्र

पं० जयगोपाल मिश्र 'फतेहपुरी', प्रयाग (उ० प्र०)/८-७-८६

"...'ॐ जूँ सः'। प्रारब्ध-पुण्य-स्रोत ! प्रणमामि।

गुरु-तत्त्व का दर्शन किया—'चण्डी-प्रकाशक' अङ्क में;

गुरु-मन्त्र की निष्ठा बढ़ी—शर्मा-शुकुल अभि-मन्त्र से।

कमाल है ! ठीक वही स्थिति मेरी श्रीमती श्यामपती देवी की थी, जिन्हें 'लघु मृत्युञ्जय मन्त्र' की दीक्षा मिली थी। वे जीवन-मुक्त सी, दोनों गुर्दे मुर्दे होने के बावजूद, तब तक जीवित रहीं, जब तक उनकी दोनों बेटियाँ और विदेश गए दामाद डा० मनमोहन मिश्र चीन से नहीं आ गए। उनकी स्थिति ठीक प्रोफेसर, दर्शन-शास्त्र, प्रयाग विश्व-विद्यालय—पं० शशिशेखरधर शर्मा की सी थी, जिनका वर्णन आपने अपने सम्पादकीय में किया है। मेरी श्रीमती जी उन्हीं की भाँति जीवन-मुक्त की तरह क्षण भर में बोलती-हँसती दिनाङ्क ७ मई, १९८९ को, शर्मा जी के दो दिन बाद, दिवङ्गत हुई थीं।..."

पं० रङ्गनाथ 'राकेश', मुगलसराय (उ० प्र०)/२०-७-८६

...पं० सविताशेखरधर शर्मा को देखा था, भीतर-बाहर से सरल, निश्छल। पार-दर्शी पारद की तरह झिलमिलाते, मृदु-भाषी। 'जीवन-मुक्तावस्था' की काष्ठा के वे प्रत्यक्ष थे, सच।...

'चण्डी', वर्ष ४८ का अप्रैल-मई, १९८९ अङ्क सर्वथा-सर्वदा पठनीय, मननीय और 'निकष' वत् अपने बोध में समाहित करके रखने की आक्षरिक निधि है। यह तो अपने आप में जीवन्त कोश है। इसे 'निकष' बनाकर 'गुरु' के 'ग'-कार, 'उ'-कार, 'र'-कार को रगड़-घिस कर देख लेना आज के विज्ञापन-मय युग में देश-कालोचित होगा। व्याकरण, आगम, तन्त्र, स्तोत्र, समाम्नायों से गुरु-तत्त्व को मथ कर इन ४० पृष्ठों में उजागर किया गया है। गुरु, देवता और मन्त्र—इन तीनों की एकात्मकता पर सम्यक् प्रत्ययात्मक (कांसेप्शनल) विवेचन यहाँ है।.... जो है—वह अद्भुत है।..."

श्री शिवशंकर श्रोत्रिय, मांडल, भीलवाड़ा (राजस्थान)/२७-७-८६

"...गुरु-पूर्णिमा के अवसर के अनुरूप 'गुरु'-विषय पर जो ज्ञान-राशि, 'चण्डी', वर्ष ४८ की प्रथम दो सङ्कलित पत्रिकाओं (चैत्र-वैशाख, २०४६) में, उड़ेली गई, वह अत्यन्त आकर्षक, हृदय-ग्राही एवं सार-गर्भित है। आपने मेरे नाम से भी इसमें एक निबन्ध छापा है। उद्‌गार मेरे हो सकते हैं, पर यह गुलदस्ता तो आपकी करामात है ! सचमुच आपका सूक्ष्म दृष्टि-कोण, आपका पाण्डित्य, आपकी सार-सङ्कलन-वृत्ति एवं दर्शन-ग्रन्थों के मन्थन का निष्कर्ष स्तुत्य है। मेरे नाम से छपे लेख को पत्रिका के अनुरूप ढालने में आपके चयन-कौशल का आभारी हूँ।..."

श्री विजयकुमार राय, देवघर, बिहार/२७-७-८६

मैंने 'श्रीगुरु-तत्त्व-दर्शन' नामक पुस्तक आद्योपान्त पढ़ा। वस्तुतः यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी और संग्रहणीय है।

निवेदन

'चण्डी' वर्ष ४८, अङ्क १-२, अप्रैल-मई, १९८९ द्वारा ४० पृष्ठीय 'श्रीगुरु-तत्त्व-दर्शन' नामक विशिष्ट निबन्ध-संग्रह के प्रति कुछ पाठकों की प्रतिक्रियायें हमें प्राप्त हुई। चार उल्लेखनीय प्रतिक्रियाओं को पृष्ठ २७ पर प्रकाशित किया गया है।

एक-दो बन्धुओं ने अपनी प्रतिक्रियाओं में यह आपत्ति की है कि 'गुरु-तत्त्व' के सम्बन्ध में बहुत-सा साहित्य इधर-उधर प्रकाशित हो चुका है। अतः इस सम्बन्ध में हमारे द्वारा पुनः प्रकाश डालना बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। ऐसी प्रतिक्रियाओं से हम सहमत नहीं हैं क्योंकि 'गुरु-तत्त्व' की समय-समय पर व्याख्या परमावश्यक है। फिर 'चण्डी' के मात्र ४० पृष्ठों में 'गुरु-तत्त्व'—विषयक जो अनूठा निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हुआ है, वह बड़े-से-बड़े ग्रन्थों में भी प्राप्त होना सम्भव नहीं है।

ठीक इसी प्रकार प्रस्तुत अङ्क ३–४, जून-जुलाई १९८९ द्वारा 'गुरु-साधना'-सम्बन्धी जो अनूठा साहित्य प्रकाशित किया जा रहा है, वह अन्यत्र एक स्थान पर मिलना सम्भव नहीं है। यद्यपि 'गुरु-साधना'—विषयक विशाल साहित्य भी विभिन्न तन्त्र-ग्रन्थों में प्राप्य है, तथापि हमने यहाँ कुछ चुनी हुई व्यावहारिक साधनाओं पर सरल-से-सरल रूप में प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है, जिससे सभी बन्धु इसे समझकर, इससे लाभ उठा सकें और अपने जीवन को सफल बना सकें।

हमारा विश्वास है कि 'चण्डी' अङ्क १–२ व अङ्क ३–४ में पहले पहल मूल संस्कृत व हिन्दी-सारांश-सहित प्रकाशित 'गुरु-तत्त्व-दर्शन' एवं 'गुरु-साधना'-सम्बन्धी साहित्य के महत्त्व की ओर सभी पाठक बन्धु ध्यान देंगे और यदि सम्भव हुआ, तो अपने विचार लिखकर हमारे पास भेजने की कृपा करेंगे।

सूचना

'चण्डी' का आगामी अङ्क ५–६ (अगस्त-सितम्बर, १९८९) सभी पाठकों की सेवा में साधारण डाक द्वारा ५ अक्टूबर १९८९ तक भेजा जाएगा। इस अङ्क में महा-शक्ति-पीठ विन्ध्याचल का परिचय विशिष्ट साहित्य के रूप में प्रकाशित हो रहा है।

इसके बाद 'चण्डी' अङ्क ७–८ (अक्टूबर-नवम्बर, १९८९), तीसरा विशेषाङ्क (भुवनेश्वरी रहस्य, भाग २) एवं चौथा विशेषाङ्क (क्या रामचरित मानस तन्त्र है?) दो विशेषाङ्कों का मूल्य २०-०० + ५-०० रु० डाकव्यय = २५-०० रु० की वी० पी० द्वारा १० नवम्बर ८९ तक भेजे जायेंगे।

'कौल-कल्पतरु' चण्डी

वर्ष ४८ : : ज्येष्ठ-आषाढ़ सं० २०४६ वि० 'चित्र-भानु' —जून-जुलाई १९८९ : : संख्या ३–४

परम पूज्य ब्रह्म-लीन 'राष्ट्र-गुरु' स्वामी जी महाराज की पुण्य-स्मृति में

श्रीगुरु-साधना

अ-नु-क्र-म

नित्यं शुद्धं निराभासं, निराकारं निरञ्जनम् ।
नित्य - बोधं चिदानन्दं, गुरुं ब्रह्म नमाम्यहम् ।।

आनन्दमानन्द-करं प्रसन्नं, ज्ञान-स्वरूपं निज-बोध-युक्तम् ।
योगीन्द्रमीड्यं भव-रोग-वैद्यं, श्रीमद्-गुरुं नित्यमहं नमामि ।।

१ गुरु-पूजन की तन्त्रोक्त चार विधियाँ	३
२ श्रीगुरु-स्तवः [१ रुद्रयामलोक्त, २ बृहन्नील-तन्त्रोक्त]	५
३ दीक्षा-दाता श्रीगुरुदेव का प्रत्यक्ष पूजन	७
४ श्रीगुरु-ध्यान-योग	१२
५ ऊर्ध्वाम्नायोक्त सिद्ध वीरौघ-गुरु-कवचं [श्रीविश्वसार-तन्त्रोक्त]	१७
६ हिन्दी ऊर्ध्वाम्नायोक्त श्रीगुरु-कवच	१८
७ श्रीगुरु-कवचम् [पुरश्चरण-रसोल्लास तन्त्रोक्त]	१९
८ हिन्दी श्रीगुरु-कवच	२२
९ श्रीमद्-गुरु-कवचं [ब्रह्म-यामलोक्त]	२३
१० हिन्दी श्रीमद्-गुरु-कवच	२५
११ श्रीगुरु-कवचम् [कङ्काल-मालिनी-तन्त्रोक्त]	२६
१२ हिन्दी श्रीगुरु-कवच	२७
१३ समस्त-मङ्गलं नाम स्त्री-गुरु-कवचं [ब्रह्म-यामलोक्त]	२८
१४ हिन्दी समस्त-मङ्गल नामक स्त्री-गुरु-कवच	३०
१५ श्रीगुरु-प्रणाम-स्तुतिः	३१

गुरु-पूजन की तन्त्रोक्त चार विधियाँ

१—बृहन्नील-तन्त्रोक्त श्रीगुरु-पूजा-विधान

पहले गुरुदेव को बैठने के लिए उत्तम 'आसन' दें, तब उनके पैरों को शुद्ध 'पाद्य' (जल) से धोकर तौलिए से सादर उन्हें पोछें। उनके शिर पर पुष्प से गङ्गा-जल छिड़ककर 'अर्घ्य' निवेदन करें। तब 'आचमन' हेतु शुद्ध पात्र में निर्मल जल दें। इसके बाद उन्हें सुगन्धित जल से 'स्नान' कराकर उत्तम 'वस्त्र' पहनाएँ। तब उनके मस्तक को भस्म या श्वेत चन्दन से त्रिपुण्ड्र लगाकर रक्त चन्दन या सिन्दूरादि 'गन्ध'-द्रव्यों से सुशोभित करें। फिर 'पुष्प'-माला से उन्हें अलंकृत कर सुगन्धित अगरबत्ती या 'धूप'-पदार्थ द्वारा उन्हें सुवासित करें। इसके बाद कर्पूर-युक्त घृत-'दीप' द्वारा भक्ति-पूर्वक मधुर घण्टी-ध्वनि के साथ उनकी आरती उतारें। तदनन्तर स्वादिष्ट चर्व्य (चबाने योग्य), चोष्य (चूसने योग्य), लेह्य (रसीले) आदि विविध रसवाले मनोहर खाद्य पदार्थों एवं विभिन्न प्रकार के मौसमी फलों से युक्त 'नैवेद्य' उनके भोजनार्थ निवेदन करें। भोजन की समाप्ति पर शुद्ध जल से उन्हें 'पुनः आचमन' करायें और सुगन्धित पुष्पों को लेकर उनकी 'पुष्पाञ्जलि' उन्हें निवेदित करें। इसके बाद मनोरम शय्या से युक्त पलँग या खाट पर उन्हें विश्राम करायें और यत्नपूर्वक उनकी चरण-सेवा करें।

इसी प्रकार अवसर मिलने पर गुरु-पत्नी, गुरु-पुत्रों की सेवा कर पुण्यार्जन करना चाहिए।

२—पुरश्चरण-रसोल्लास-तन्त्रोक्त सपत्नीक श्रीगुरु-पूजन

सपत्नीक अपने गुरुदेव को सभक्ति आमन्त्रित करें। उनके पधारने पर विविध सुगन्धों से युक्त तैल द्वारा उनके शरीर की मालिश करें। तब विभिन्न सुगन्धों से युक्त शुद्ध जल से उन्हें स्नान करायें। सुन्दर तौलियों द्वारा उनके शरीर को पोंछकर उन्हें उत्तम रेशमी वस्त्र पहनाएँ। फिर विविध प्रकार के चन्दनों, सिन्दूर आदि से उन्हें सुशोभित कर उन्हें मनोहर पुष्प-मालाओं से विभूषित करें। तदनन्तर धूप, दीप से सभक्ति उनका पूजन कर उन्हें खाद्य-पेयादि नैवेद्य से तृप्त कर सुगन्धित ताम्बूल देकर उन्हें सन्तुष्ट करें। इस प्रकार प्रकृति (शक्ति) के साथ श्रीगुरुदेव का पूजन करना चाहिए।

गुरुदेव के अङ्गों में चन्दन का लेप कर उनके कण्ठ में पुष्प-माला पहनाएँ तथा रत्न-जटित हारादि शङ्ख, कङ्कन, केयूर, नूपुरादि विविध आभूषणों से उन्हें सुशोभित करें। साक्षात् जगदीश्वरी उनकी पत्नी को रेशमी वस्त्रादि, स्वर्ण-रत्नादि आभूषणों से सन्तुष्ट करें। उनके बाईं ओर भक्ति-पूर्वक खड़े होकर उन्हें उनके अनुरूप दक्षिणा प्रदान करें। उनके पूजन का मन्त्र निम्न प्रकार है—

काम - बीजं (क्लीं) समुद्धृत्य, तस्याश्चाख्यान (नाम) मुद्धरेत्।
पुनः कामं (क्लीं) समुद्धृत्य, मन्त्रमेतदुदीरितम्॥

अर्थात् 'क्लीं अमुकी देव्यम्बायै क्लीं नमः'——ऐसे मन्त्र से उनका पूजनादि करना चाहिए।

स-पत्नीक गुरुदेव की पूजा जो साधक उक्त विधि से करता है अथवा जो सहस्रार में सहस्र-दल-कमल के कोष के ऊपर श्रीगुरु-चरणों का ध्यान कर वहाँ स-पत्नीक गुरुदेव की पूजा उनकी अनुमति लेकर करता है, तो मात्र केवल एक बार ऐसी पूजा करने के फल-स्वरूप उसे तुरन्त अभीष्ट-सिद्धि प्राप्त हो जाती है। उसे दस हजार या लाखों जप करने से भी वैसी सिद्धि नहीं मिल सकती।

उक्त प्रकार प्रति-दिन पूजन करता हुआ यदि दिन में दक्षिणाचार के साथ एक लाख और रात्रि में वीराचार से एक लाख जप करे तथा गुरुदेव को दक्षिणा से सन्तुष्ट करे, तो उसे चन्द्र, सूर्य के ग्रहण-अनुष्ठानों के करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। उसे वाञ्छित सिद्धि सहज ही मिल जाती है।

३ कङ्काल-मालिनी-तन्त्रोक्त गुरु-पूजन

निर्गुण पर-ब्रह्म का महा-मन्त्र है दो अक्षरवाला 'गुरु' शब्द। यह बड़ा गोपनीय है। इसका ध्यान निम्न प्रकार करना चाहिए—

सहस्र-दल कमल के ऊपर उज्ज्वल अन्तरात्मा विराजमान है। उसके ऊपर 'नाद' और 'विन्दु' के मध्य में प्रकाशमान सिंहासन पर चाँदी के समान चमकीली आभावाले अपने गुरुदेव का ध्यान करना चाहिये, जो वीरासन में बैठे हुये हैं और आभूषणों से सुसज्जित हैं। श्वेत पुष्प-माला और श्वेत-वस्त्र धारण किए वे अपने कर-कमलों से 'वर' एवं 'अभय' दे रहे हैं। उनकी बाँईं जंघा पर दया-पूर्ण दृष्टि से देखती हुई उनकी शक्ति विराजमाना हैं, जो अपने दाएँ हाथ से गुरुदेव के सुन्दर शरीर का आलिङ्गन किए हैं। भगवती शक्ति लाल वस्त्राभूषण धारण किए हैं और अपने बाँएँ हाथ में रक्त-कमल लिए हैं।

ज्ञानानन्द से युक्त रहते हुए गुरुदेव का स्मरण उनके नाम-सहित उक्त प्रकार करना चाहिए। इस प्रकार ध्यान कर बुद्धिमान् साधक को मानस उपचारों से उनका पूजन करना चाहिए।

भूम्यात्मक 'गन्ध', भावात्मक 'पुष्प', वाय्वात्मक 'धूप', तैजसात्मक 'दीप', अमृतात्मक 'नैवेद्य', वरुणात्मक 'पानीय' (जल), आकाशात्मक 'मुकुट' प्रदान करे। इसी प्रकार वस्त्र, चामर, पादुका, छत्र, अलङ्कार आदि तत्सम्बन्धी मुद्राएँ दिखाकर देने चाहिए।

मानस पूजन कर चुकने पर यथा-शक्ति जप कर 'कवच-स्तोत्र', 'गुरु-गीता' का पाठ करे।

४ रुद्र-यामल-तन्त्रोक्त गुरु-पूजन

अरुणोदय के समय से लेकर रात्रि के आठ दण्ड तक का काल 'पशु-भाव' अर्थात् 'दक्षिणाचार' के अनुसार व्यतीत करना चाहिए। प्रातःकाल की नित्य-क्रिया करने के बाद पुनः शय्या पर बैठकर सिर में स्थित सहस्र-दल-कमल में गुरुदेव का ध्यान करे। यथा—

महान् गुरुदेव तरुण आदित्य के समान तेजस्वी हैं। उनकी महिमा अपार है। वे चन्द्र-शेखर हैं। अत्यन्त उज्ज्वल और कान्तिमान् हैं। दो नेत्र और दो भुजाएँ हैं। श्वेत वस्त्र धारण किये हैं। उनका शरीर धर्मार्थ-काम-मोक्ष-स्वरूप है। दोनों हाथों से वर और अभय दे रहे हैं। प्रफुल्लित कमल-पुष्प पर वे विराजमान हैं। वे सर्वज्ञ जगदीश्वर हैं। वन-माला और रत्नाभूषणों से सुशोभित हैं।

उक्त प्रकार ध्यान कर 'अन्तर्याग' की विधि से कमल-पुष्पों से गुरुदेव की पूजा कर अपनी दीर्घायु एवं आरोग्य की वृद्धि के लिए एकान्त-भक्ति के साथ उनके श्रीचरणों में प्रणाम करे। इस मानस पूजन के समय महा-गुरु-मन्त्र का जप करते रहना चाहिए। वह महा-मन्त्र निम्न प्रकार है—

मन्त्र के आदि और अन्त में प्रणव (ॐ), मध्य में वाग्भव (ऐं), उसके बाद गुरु-नाम, फिर 'आनन्दनाथ-गुरवे' शब्द कह कर 'नमः' का उच्चारण करे। अर्थात्—'ॐ ऐं अमुकानन्दनाथ-गुरवे नमः ॐ'—इस महा-मन्त्र का जप करने से साधक सभी सिद्धियों का स्वामी होता है। नित्य १०८ या १००८ बार जप कर, जप-फल समर्पित करे और वाग्भव (ऐं) से तीन बार प्रसन्नतापूर्वक प्राणायाम करे। तब 'श्रीगुरु-स्तव' और 'श्रीगुरु-कवच' आदि का पाठ करे।

● ● ●

श्रीगुरु-स्तवः

[१ रुद्रयामल-तन्त्रोक्त श्रीगुरु-स्तोत्र]

शिरः-स्थित-सु-पङ्कजे[१], तरुण - कोटि-चन्द्र-प्रभम् ।
वराभय - कराम्बुजं सकल - देवता - रूपिणम् ।।
भजामि वरदं गुरुं, किरण-चारु-शोभोज्ज्वलम्[२] ।
प्रकाशित - पद - द्वयाम्बुजमलक्त[३] - कोटि-प्रभम् ।।१

जगद् - भय - निवारणं, भुवन - भोग-मोक्ष-प्रदम् ।
गुरोः पाद-युगाम्बुजं, भजति[४] यत्र योगे जयम् ।।
भजामि परमं गुरुं, नयन - पद्म - मध्य - स्थितम् ।
भवाब्धि-भय-नाशनं, शमन-रोग - काल[५] - क्षयम् ।।२

प्रकाशित सु - पङ्कजे, सुदल[६] - षोडशाख्ये प्रभुम् ।
परापर-गुरुं भजे, सकल - राज्य[७] - भोग - प्रदम् ।।
विशाल-नयन-द्वयाम्बुज[८] - तडित्-प्रभा - मण्डलम् ।
कडार-मणि-पाटल - द्युतिमदिन्दु - विन्द्विन्दुकम्[९] ।।३

महौजसमुमापतेर्विगत - दक्ष - भागे हृदि ।
प्रभाकर - शतोज्ज्वलम्, सुविमलेन्दु-कोट्यानन‌म् ।।
भजामि परमेष्ठिनं, गुरु-गभीर-रावोल्वनम्[१०] ।
चलाचल - कलेवरं, प्रचपले दले द्वादशे ।।४

गुर्वङ्घ्रयब्जं[११] शुभं मादन-गण-दहनं[१२] हेम-मञ्जीर[१३]-सारम् ।
नाना-शब्दाद्भुताह्लादित-परिचरणा[१४] चारु-चक्रं त्रिभङ्गम् ।।
नित्यं ध्यायेत् प्रभाते अरुण-शत-घटा-शोभनं योग-गम्यम् ।
नाभौ पद्मेऽति-कान्ते दश-दल-मणिभे भाव्यते योगिभिर्यत् ।।५

या माता मय-दानवादि-सुभुजा[१५]-निर्माण[१६]-सीमा-पुरे ।
स्वाधिष्ठान-निकेतने रस-दले वैकुण्ठ - मूले मया ।।
जन्मोद्धार-विकार-भाव-लहरी[१७] वेद-प्रभा भाव्यते ।
कन्दर्पार्पित-शान्ति-योनि-जननी विष्णु-प्रिया शाङ्करी ।।६

या भासानल[१८]-कुण्डली कुल-पथोद्दामाभ[१९]-शोभाकरी ।
मूले पद्म-चतुर्दले कुल-वती निःश्वास-देशाश्रिता ।।
साक्षात्-कांक्षित-कल्प-वृक्ष-लतिका सुप्ता स्वयम्भू[२०]-प्रिया ।
नित्या योगि-भयापहा विष-हरा गुर्वम्बिका भाव्यते ।।७
उर्ध्वाम्भोरुह-निःसृतामृत-घटा[२१] मोदाज्जलाप्लाविता[२२] ।
गुर्वाद्या[२३] परिपातु सूक्ष्म-पथगा तेजोमयी भास्वती ।।
सूक्ष्मा साधन-गोचरामृत-मयी मूलादि-शीर्षाम्बुजे ।
पूज्या[२४] चेतसि भाव्यते भुवि कदा माता सदोर्ध्वोद्गमा ।।८
स्थिति - पालन - योगेन ध्यानेन पूजनेन वा ।
यः पठेत् प्रत्यहं व्याप्य स देवो न तु मानुषः ।।
कल्याणं धनदं चैव[२५] कीर्त्तिमायुर्यशः - श्रियम् ।
सायाह्ने च प्रभाते च पठेद्यदि सु-बुद्धिमान् ।।
स भवेत् साधक - श्रेष्ठः कल्पद्रुम - कलेवरः ।
स्तवस्यास्य प्रभावेन[२६] वागीशत्वमवाप्नुयात् ।।९

पाठान्तर—१ शिरसि सित-पङ्कजे । २ शोभाकुलम् । ३ मलतक । ४ जयति । ५ काम । ६ मृदुल । ७ बाह्य । ८ नयनाम्बुज-द्वय । ९ मुद्रित रुद्रयामल में अशुद्ध छपा है—'कडार-मणि-पाटलेन्दु-बिन्दु-बिन्दुकम्' (तीन अक्षर कम हैं) । १० गुरुमतीव-वारोज्ज्वलम् । ११ गुर्वाद्यं च । १२ मदन-निदहनम् । १३ मञ्जरी । १४ परिजनात् । १५ स्व-भुजा । १६ निर्वाण । १७ सुप्रहरिणी । १८ भाषा-नन । १९ कुल-पथाच्छामाभ । २० सूद्भाषन्ती । २१ घटी । २२ मोदोद्वलाप्लाविता । २३ गुर्वास्या । २४ पूर्णा । २५ धन-धान्यं च । २६ प्रसादेन ।

[२ कुब्जिका-तन्त्रोक्त श्रीगुरु-स्तोत्रम्]

ॐ नमस्तुभ्यं महा-मन्त्र-दायिने शिव-रूपिणे । ब्रह्म-ज्ञान-प्रकाशाय, संसार-दुःख-तारिणे ।।१
अति-सौम्याय दिव्याय, वीराय ज्ञान-हारिणे । नमस्ते कुल-नाथाय, कुल-कौलिन्य-दायिने ।।२
शिव-तत्त्व-प्रबोधाय, ब्रह्म-तत्त्व-प्रकाशिने । नमस्ते गुरवे तुभ्यं, साधकाभय-दायिने ।।३
अनाचाराचार-भाव-बोधाय भक्त-हेतवे । भावाभाव-विनिर्मुक्ताय, मुक्ति-दात्रे नमो नमः ।।४
नमस्ते शम्भवे तुभ्यं, दिव्य-भाव-प्रकाशिने । ज्ञानानन्द-स्वरूपाय, विभवाय नमो नमः ।।५
शिवाय शक्ति-नाथाय, सच्चिदानन्द-रूपिणे । काम-रूपाय कामाय, काल-केलि-कलात्मने ।।६
कुल-पूजोपदेशाय, कुलाचार-स्वरूपिणे । आरक्त-लसच्छक्तये, सम-भाग-विभूतये ।।
नमस्तेऽस्तु महेशाय, नमस्तेऽस्तु नमो नमः ।।७
इदं स्तोत्रं पठेन्नित्यं, साधको गुरु-दिङ्-मुखः । प्रातरुत्थाय देवेशि ! ततो विद्या प्रसीदति ।।१

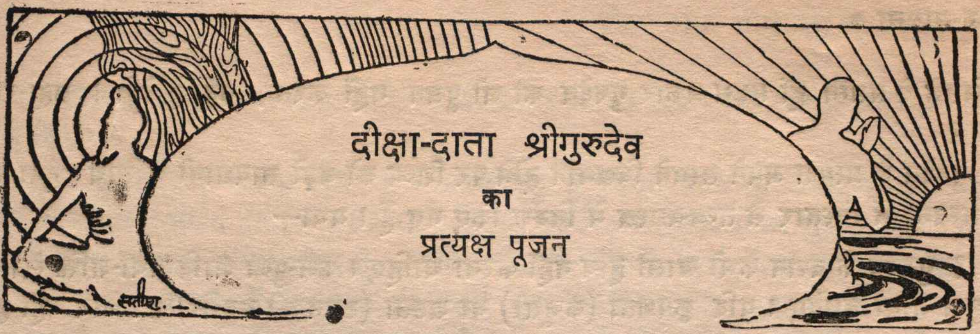

दीक्षा-दाता श्रीगुरुदेव का प्रत्यक्ष पूजन

शाक्त साधना में—१ श्री गुरु, २ श्री परम गुरु, ३ श्री परापर गुरु और ४ श्री परमेष्ठी गुरु—इन 'गुरु-चतुष्टय' के पूजन-तर्पण का विधान नित्यार्चन में अनिवार्य रूप से मिलता है। इनके अतिरिक्त तीन गुरु-समूहों—१ दिव्यौघ, २ सिद्धौघ और ३ मानवौघ—के भी पूजन-तर्पण का विधान विस्तृत अर्चन में निर्दिष्ट है। कहीं-कहीं 'परौघ' नाम से एक चौथे गुरु-समूह के पूजन-तर्पण का भी प्रचलन है, जिसका स्थान उक्त ओघ-त्रय के पूर्व निर्दिष्ट है। यह पूजन सामान्यतः मानसिक रूप से ही कर्तव्य है क्योंकि अपने गुरुदेव के अतिरिक्त अन्य गुरुओं का साक्षात्कार तो प्रायः असम्भव ही है। हाँ, दीक्षा-दाता गुरुदेव प्रत्यक्ष पूजन के लिए सुलभ हो सकते हैं।

प्रत्यक्ष पूजन किस प्रकार किया जाय, इसके सम्बन्ध में 'परा-तन्त्र' में श्री भैरव ने देवी से निम्न वचन कहे हैं—

सम्पूज्य विविधैः पुष्पैर्माल्यैराभरणोत्तमैः,
दक्षिणाभिर्महेशानि ! भक्ष्यैर्भोज्यैः स - लेह्यकैः ।
चोष्यैः पेयैश्च खाद्यैश्च, बलिं दत्वा च तर्पयेत्,
तत्र देवि ! गुरुं नत्वा, प्रार्थयेत् स्व-मनोरथम् ।।१
एवं सम्पूजयेद् देवि ! स्व - गुरुं पुण्य-वासरे,
स एव भैरवः साक्षात्, भुक्ति-मुक्तयोश्च भाजनम् ।
गुरुं अभ्यर्चयेन्नित्यं, येन तुष्यति सुन्दरि,
एवं यो नार्चयेद् देवि ! स भवेद् ब्रह्म-राक्षसः ।।२

अर्थात् हे महेशानि ! विविध प्रकार की पुष्प-मालाओं, उत्तम आभूषणों और दक्षिणा द्वारा गुरुदेव का पूजन कर बलि-रूप में भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य, पेय और खाद्य पदार्थ प्रदान कर उन्हें तृप्त करे। तब हे देवि ! गुरुदेव को प्रणाम करे, उनसे अपने मनोरथ को पूर्ण करने की प्रार्थना करे।।१

प्रार्थना-मन्त्र वहीं यह बताया है—

ॐ विहितं विदधे नाथ ! विधेयं यत् कृपा-कर !
अविरुद्धं भवत्वत्र, तत् त्वदीय-प्रसादतः ।।

इस प्रकार हे देवि ! पुण्य दिवस में जो गुरुदेव का पूजन करता है, वह साक्षात् भैरव-स्वरूप होता है और भोग तथा मोक्ष दोनों का अधिकारी होता है। हे सुन्दरि ! प्रतिदिन गुरुदेव की पूजा करनी

चाहिए, जिससे वे प्रसन्न हों। इस प्रकार गुरुदेव का जो पूजन नहीं करता, वह, हे देवि ! ब्रह्म-राक्षस होता है ।।२

गुरुदेव के प्रत्यक्ष अपने सामने विद्यमान होने पर शिष्य को बड़ी सावधानी के साथ रहना पड़ता है। इसी सम्बन्ध में विस्तार से तन्त्र-शास्त्र में निर्देश किए गए हैं। यथा—

१ गुरुदेव के दर्शन कभी खाली हाथ नहीं करना चाहिए। फल-पुष्प आदि यथा-शक्ति लेकर ही उनके सम्मुख जाना चाहिए। यदि कृपणता (कंजूसी) या शठता (ठगने की प्रवृत्ति) का भाव नहीं है, तो थोड़ी-सी वस्तु-मात्र—एक फूल ही बहुत बड़ा उपहार बन जाता है और सद्-गुरु उसे ही पाकर प्रसन्न हो उठते हैं। गुरुदेव के साथ कृपणता या शठता का व्यवहार करनेवाले शिष्य को भयानक नरक में जाना पड़ता है।

२ गुरु के वचन को मिथ्या सिद्ध कर जो अपने वचन को सत्य सिद्ध करता है और गुरु को पराजित करने की इच्छा जो अपने मन में रखता है, वह शिष्य घोर नरक के समुद्र में गिरता है।

३ जप-काल के सिवा अन्य किसी भी समय गुरुदेव के नाम का उच्चारण नहीं करना चाहिए।

४ गुरुदेव के जूठे भोजन को प्रसाद-रूप में बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ खाना चाहिए।

५ गुरुदेव जिस दिन या जिस समय सम्मुख हों, उस दिन या उस समय को श्रेष्ठ पुण्य-काल समझना चाहिए।

६ गुरुदेव, गुरु-पुत्र या गुरु-पत्नी की उपेक्षा करनेवाला शिष्य पतितावस्था को प्राप्त करता है।

७ पूजा करते समय गुरुदेव, गुरु-पुत्र या गुरु-पत्नी आ जायँ, तो उस पूजा को छोड़कर उठ जाय और उनका पूजन-सत्कार करने में तत्पर हो जाय।

८ गुरुदेव या उन जैसे पूज्य के साथ चलते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि उनकी छाया का अपने द्वारा उल्लंघन न हो, अन्यथा पाप होता है।

९ गुरुदेव के बगल में न तो कभी बैठे और न कभी लेटे। अन्यथा घोर नरक में जाना पड़ता है।

१० गुरुदेव को देखते ही शिष्य को उठकर खड़े हो जाना चाहिए और भूमि पर दण्डवत् कर उन्हें प्रणाम करना चाहिए तथा उनकी प्रदक्षिणा कर उनका स्वागत-सत्कार करना चाहिए।

११ गुरुदेव को आते हुए देखकर आगे बढ़कर उनकी अभ्यर्थना करे और जब वे जाने लगें, तो उनके पीछे-पीछे चलता हुआ उन्हें गन्तव्य स्थान तक पहुँचाये या सादर अनुमति लेकर उन्हें विदा करे।

१२ गुरुदेव के सम्मुख कभी झूठ न बोले, कभी बहुत बात-चीत न करे।

१३ गुरुदेव के साथ ऋण का लेन-देन, खरीदने-बेचने का व्यवहार न करना चाहिए।

१४ गुरुदेव के सामने न तो किसी को दीक्षा दे, न व्याख्यान दे और न ही अपने वैभव का प्रदर्शन करे। उनके सम्मुख अपनी शय्या, आसन, वस्त्र, भूषण, पादुका आदि का त्याग करके नम्रता-पूर्वक ही रहे।

१५ गुरुदेव की शय्या, आसन, वाहन, पादुका, स्नानोदक आदि को कभी न लाँघे।

सारांश यह है कि जिस प्रकार देवता की प्रतिमा और पूजा-यन्त्र के प्रति सावधानी रखनी होती है, उसी प्रकार प्रत्यक्ष गुरुदेव को अपनी श्रद्धा, भक्ति और अनुशासन-पूर्ण सेवा द्वारा प्रसन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए।

महा-महोपाध्याय स्व० पं० गोपीनाथ जी कविराज 'पद्म-भूषण' ने 'श्रीगुरु-तत्त्व' के सन्दर्भ में लिखा है कि—

"···गुरु-तत्त्व शब्द-ब्रह्म-स्वरूप है।···शब्द-ब्रह्म से उद्भूत चैतन्य-शक्ति-सम्पन्न शब्द या वाक्य ही 'मन्त्र'-रूप में परिगणित होता है। यह शब्द जिनके मुख से उच्चारित होकर शुश्रूषु शिष्य के कान में तथा उसके द्वारा हृदय में अर्पित होता है, उनके व्यवहार-भूमि में 'गुरु'-पद-वाच्य और 'गुरु'-रूप से पूजनीय होने पर भी वास्तव में यह 'मन्त्र' ही यथार्थ 'गुरु'-रूप में ग्राह्य है।···शब्द-ब्रह्म से परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी—चार प्रकार की वाक् उत्पन्न हुई है एवं वाक् से ही पृथ्वी से सदा-शिव पर्यन्त सब तत्त्व उत्पन्न हुए हैं। इसीलिए 'गुरु' व्यक्त और अव्यक्त रूप से समग्र विश्व में व्याप्त हैं···विश्व के बाहर शब्द-ब्रह्म के रूप में एवं शब्द-ब्रह्म का अतिक्रमण कर परब्रह्म सच्चिदानन्द-रूप से वे नित्य विराजमान हैं।··· पूर्ण ब्रह्म का परम स्वरूप अव्यक्त है और वह बद्ध जीव के लिए अवाङ्-मनस्-गोचर है। इसीलिए वे जीव को स्वरूप-धरा देने के लिए गुरु-रूप से नीचे उतर आते हैं एवं जीव को धर कर क्रमशः फिर उसी अव्यक्त परम धाम में पहुँचा देते हैं। यही उनकी महा-कृपा का विलास है।···"

'गुरु'-तत्त्व के इस दार्शनिक विवेचन से भी यही प्रतिपादित होता है कि मन्त्र-दाता 'गुरुदेव' का मानव-स्वरूप देव-वत् ही पूजनीय है। पूजन द्वारा ही उनके माध्यम से परब्रह्म सच्चिदानन्द-स्वरूप का साक्षात्कार सम्भव है किन्तु यह पूजन किया किस प्रकार जाय? इस प्रश्न का उत्तर संक्षेप में पहले ही 'परा-तन्त्र' के वचनों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। विस्तृत समाधान आगे प्रकाशित श्रीगुरु-'पूजन-विधि' से प्राप्य है। इस 'पूजन-विधि' के अन्तर्गत पहले काली-कुल के साधकों के लिए 'परा-तन्त्रोक्त पूजा-विधि' दी गई है। फिर श्रीकुल के साधकों के लिए पूजा-विधि दी गई है, जो कांची-काम-कोटि-पीठाधीश्वर द्वारा संस्तुत 'श्रीविद्या-सपर्या-पद्धति' के आधार पर लिखी गई है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य तन्त्रों में बताई गई विधियाँ भी उद्धृत की गई हैं। सुविधानुसार किसी भी विधि को अपनाया जा सकता है।

१ काली-कुल के साधकों के लिए पूजा-विधि

पूजा-स्थान पर सिन्दूर से विन्दु, त्रिकोण, अष्ट-कोण, वृत्त, अष्ट-दल, तीन वृत्त, भूपुरात्मक यन्त्र लिखे। देखिए— पृष्ठ ११ पर प्रकाशित रेखा-चित्र।

भूपुर के चार द्वारों में गन्धाक्षत-पुष्पों से क्रमशः—१ गणेश, २ धर्म-राज, ३ वरुणदेव और ४ कुबेर का पूजन करे।

अष्ट-दलों में उसी प्रकार क्रमशः—१ असिताङ्ग, २ रुरु, ३ चण्ड, ४ क्रोधेश, ५ उन्मत्त, ६ कपाली, ७ भीषण और ८ संहार भैरवों का पूजन करे।

आठ त्रिकोणों में पूर्ववत् क्रमशः—१ परमानन्दनाथ, २ प्रकाशानन्दनाथ, ३ भोगानन्दनाथ, ४ समयानन्दनाथ, ५ गगनानन्दनाथ, ६ विश्वानन्दनाथ, ७ भुवनानन्दनाथ और ८ स्वात्मानन्दनाथ—इन आठ कुल-गुरुओं का पूजन करे।

मध्य में त्रिकोण के तीनों कोणों में क्रमशः १ मदनानन्दनाथ, २ लीलानन्दनाथ और ३ महेश्वरानन्दनाथ का पूजन करे।

तदनन्तर केन्द्रस्थ विन्दु में गुरुदेव का पूजन करे। इसके बाद उसी विन्दु के ऊपर आसन बिछा कर श्रीगुरुदेव को सादर लाकर बिठाये। उनका विधिवत् पूजन कर उनकी अनुमति लेकर हृदय में अपने मूल-मन्त्र से दक्षिण कालिका की पूजाकर महा-काल का पूजन करे। फिर वहीं कामदेव और कामेश्वरी का पूजन करे। अपने शिर में गुरु, परम गुरु, परात्पर गुरु और परमेष्ठि गुरु का पूजन कर सम्मुख विराजमान गुरुदेव को पुष्प-माला अर्पित कर दक्षिणा प्रदान करे और उत्तम भोजन एवं पेय से उन्हें तृप्त कर उनके शुभाशीर्वाद प्राप्त करे।

२ श्रीकुल के साधकों के लिए पूजा-विधि

पृष्ठ ११ पर प्रकाशित रेखा-चित्र के अनुरूप नौ-त्रिकोणात्मक यन्त्र पूजा-स्थान पर बिल्व या अनार की कलम से रक्त-चन्दन से अंकित करे। मध्य त्रिकोण के विन्दु (१) स्थान एवं चारों ओर के आठों त्रिकोणों को लक्ष्य कर निम्न मन्त्र से पुष्पांजलि अर्पित करे——

ॐ ऐं ह्रीं श्रीं परौघेभ्यो नमः

फिर विन्दु-स्थान में महा-पादुका का पूजन-तर्पण निम्न मन्त्र से करे—

ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः ऐं ग्लौं ह्स्ख्फ्रें ह-स-क्ष-म-ल-व-र-यूं ह्सौः स-ह-क्ष-म-ल-व-र-यीं स्हौः श्रीविद्यानन्दनाथात्मक-चर्यानन्दनाथ-श्रीमहा-पादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

ॐ ऐं ह्रीं श्रीं नमो भगवते दक्षिणामूर्तये मह्यं मेधां प्रज्ञां प्रयच्छ स्वाहा श्रीमेधा-दक्षिणामूर्ति श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

अब मध्य त्रिकोण के बाँएँ कोण से प्रारम्भ कर पूर्वस्थ रेखा में निम्न मन्त्रों से पूजन-तर्पण करे। प्रत्येक मन्त्र के आदि में 'ॐ ऐं ह्रीं श्रीं' और अन्त में 'श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः' जोड़ ले। यथा—

ॐ ऐं ह्रीं श्रीं उड्डीशानन्दनाथ-श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः। ४ प्रकाशानन्दनाथ०। ४ विमर्शानन्दनाथ०। ४ आनन्दानन्दनाथ०।

अब इसी प्रकार दाएँ कोण से प्रारम्भ कर दक्षिण की रेखा में पूर्ववत् निम्न मन्त्रों से पूजन-तर्पण करे–

४ षष्ठीशानन्दनाथ०। ४ ज्ञानानन्दनाथ। ४ सत्यानन्दनाथ। ४ पूर्णानन्दनाथ।

तब अपने सम्मुख कोण से प्रारम्भ कर उत्तर (बाँईं) रेखा में पूर्व-वत् निम्न मन्त्रों से पूजन-तर्पण करे –

४ मित्रेशानन्दनाथ०। ४ स्वभावानन्दनाथ०। ४ प्रतिभानन्दनाथ०। ४ सुभगानन्दनाथ०।

इसके बाद मध्य त्रिकोण की पूर्वस्थ रेखा के ऊपर तीन रेखाओं में क्रमशः दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ गुरुओं का पूजन-तर्पण करे। पहले 'ओघ-त्रय' के प्रति निम्न मन्त्र से पुष्पांजलि अर्पित करे——

ॐ ऐं ह्रीं श्रीं दिव्यौघ-सिद्धौघ - मानवौघेभ्यो नमः ।

अब नीचे से प्रथम रेखा में पूर्व-वत् मन्त्रों से दिव्यौघ गुरुओं का पूजन-तर्पण करे—

४ पर-प्रकाशानन्दनाथ० । ४ पर-शिवानन्दनाथ । ४ परा-शक्त्यम्बा० । ४ कौलेश्वरानन्दनाथ०॥ ४ शुक्ल-देव्यम्बा० । ४ कुलेश्वरानन्दनाथ । ४ कामेश्वर्यम्बा० ।

द्वितीय रेखा में पूर्व-वत् निम्न मन्त्रों से सिद्धौघ-गुरुओं का पूजन-तर्पण करे—

४ भोगानन्दनाथ० । ४ क्लिन्नानन्दनाथ० । ४ समयानन्दनाथ० । ४ सहजानन्दनाथ ० ।

सबसे ऊपर स्थित तृतीय रेखा में पूर्ववत् निम्न मन्त्रों से मानवौघ गुरुओं का पूजन-तर्पण करे—

४ गगनानन्दनाथ० । ४ विश्वानन्दनाथ० । ४ विमलानन्दनाथ० । ४ मदनानन्दनाथ० । ४ भुवनानन्दनाथ ० । ४ प्रियानन्दनाथ० । ४ श्रीशङ्कर-भगवत्पाद० ।

इसके बाद प्रथम रेखा में अपने 'परमेष्ठि-गुरु' का, द्वितीय रेखा में अपने 'परम-गुरु' का और तृतीय रेखा में अपने 'गुरुदेव' का उनके नाम-मन्त्रों से पूजन-तर्पण करे ।

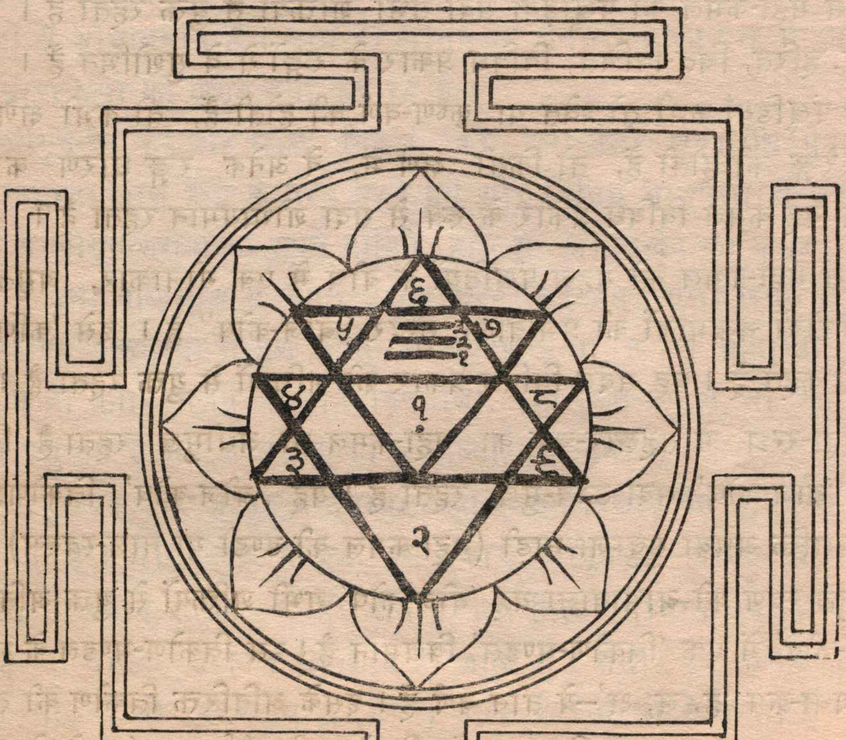

श्रीगुरु-ध्यान-योग

श्रीगुरु-चक्र का वर्णन

दोनों भौहों के बीच का स्थान भृकुटि कहलाता है। इस भृकुटि की सीध में पीछे मेरु-दण्ड के ऊर्ध्व-भाग में स्थित 'सुषुम्णा नाड़ी' में 'आज्ञा-चक्र' है। यह आज्ञा-चक्र दो पंखुड़ियोंवाले कमल-पुष्प (द्वि-दल पद्म) जैसा है।

आज्ञा-चक्र के ऊपर ब्रह्म-रन्ध्र (सिर के सबसे अग्र-भाग) में एक हजार पंखुड़ियों-वाला (सहस्र-दल पद्म) अधोमुख सफेद कमल–जैसा 'सहस्रार-चक्र' है। इस कमल की डण्डी या नाल (मृणाल) रूपी सुषुम्णा-नाड़ी में स्थित अत्यन्त सूक्ष्म चित्रिणी नाड़ी अथवा परम आश्चर्य-मयी 'कुण्डलिनी'-शक्ति है।

सहस्रार का यह महा-कमल साक्षात् परम शिव का स्थान है एवं नित्य आनन्द-मय है। इस महा-कमल की पंखुड़ियाँ सदा सभी शक्तियों से युक्त रहती हैं। श्वेत, रक्त, पीत, कृष्ण, हरित, चित्र-विचित्र, विविध प्रकार के रङ्गों से वे सुशोभित हैं।

ये पंखुड़ियाँ कभी तो श्वेत या कृष्ण-वर्ण की होती हैं, तो कभी क्षण भर में वे उत्तम हरे रङ्ग की होती हैं, तो किसी क्षण में, वे अनेक रङ्ग धारण कर लेती हैं। इस प्रकार यह कमल विविध प्रकार के रूप से सदा शोभायमान रहता है।

इस महा-कमल की सहस्र पंखुड़ियों के बीच में एक गोलाकार, अमृत-सागर-वत्, विशाल, करोड़ों चन्द्रमाओं की प्रभावाला, सुन्दर "बीज-कोष" है। इसे 'कर्णिका' अथवा 'वराट्' भी कहते हैं। यह सदैव विविध प्रकार की शक्तियों से युक्त रहता है।

ब्रह्म-रन्ध्र में सहस्रार-चक्र का महा-कमल तो अधोमुख रहता है किन्तु उसका अमृत-मय 'बीज-कोष' सदा ऊर्ध्व-मुख रहता है। यह 'बीज-कोष' त्रिकोणाकार-रूप में कुण्डलिनी-शक्ति अथवा सुषुम्णा नाड़ी (महा-कमल की डण्डी या नाल-स्वरूप) से युक्त है।

शुद्ध स्वर्ण की आभावाला यह 'बीज-कोष' सभी शक्तियों से युक्त अति सक्षम है। इस 'बीज-कोष' में एक 'त्रिकोण-मण्डल' विद्यमान है। इस त्रिकोण-मण्डल के भीतरी तीनों कोणों में यथा-क्रम 'ह, ल, क्ष'–ये तीन वर्ण हैं। इसके अतिरिक्त त्रिकोण की तीन भुजाओं के रूप में समस्त मातृका-वर्ण विद्यमान हैं। त्रिकोण की बाँईं भुजा 'अ' से लेकर 'अः' तक, ऊपर की भुजा 'क' से लेकर 'त' तक और दाहिनी भुजा 'थ' से लेकर 'स' तक के सोलह-

सोलह अक्षरों की हैं। इस त्रिकोण-मण्डल को 'योनि-पीठ' और 'शक्ति-मण्डल' भी कहते हैं। इस त्रिकोण-मण्डल के मध्य में एक तेजो-मय 'बिन्दु' (०) है। उसके ऊपर दण्डाकार तेजो-मय 'नाद' (˘) विद्यमान है।

तेजो-मय नाद के ऊपर निर्धूम अग्नि-शिखा की भाँति 'तेज-पुञ्ज' है। इस 'तेज-पुञ्ज' के ऊपर एक श्वेत हंस विराजमान है। इस हंस का शरीर ज्ञान-मय है। हंस के दोनों पक्ष 'आगम' (वेद) और 'निगम' (तन्त्र) हैं। हंस के दोनों चरण शिव-शक्ति-मय, चोंच प्रणव (ॐ)–स्वरूप एवं आँख और कण्ठ काम-कला-रूप हैं।

इस श्वेत हंस के ऊपर श्वेत-वर्ण वाग्भव-बीज 'ऐं' विद्यमान है। इसी वाग्भव-बीज 'ऐं' के बगल में श्रीगुरु-देव विराज रहे हैं। उनका वर्ण श्वेत एवं कोटि-सूर्य की भाँति प्रभा-वाला है। उनके दो हाथ हैं––एक हाथ वर और दूसरा हाथ अभय-मुद्रा से सुशोभित है। श्रीगुरु-देव श्वेत-माला और श्वेत-गन्ध (चन्दन) धारण किये हुए हैं एवं श्वेत-वस्त्रों से शोभायमान हैं। साथ ही श्रीगुरु-देव अनोखी हास्य-युक्त मुस्कान व करुणा-दृष्टि के द्वारा कृपा की अमृत-वर्षा कर रहे हैं।

श्रीगुरु-देव के बाँईं ओर, बिजली की रेखा-जैसी चकाचौंध पैदा करती हुई श्रीगुरु-शक्तचम्बा लाल रङ्ग के वस्त्र पहने हुए और विविध आभूषणों से शोभित विराज-मान हैं। ये श्रीगुरु-शक्तचम्बा अपने दाहिने हाथ से श्रीगुरु-देव की कमर को आलिङ्गन किए हुए हैं तथा बाँयें हाथ में कमल धारण करती हुई प्रसन्न-मुखी स्थित हैं।

श्रीगुरु-शक्तचम्बा सम्पूर्ण जगत् की कारण-भूता, अनन्त ब्रह्माण्डों को रात-दिन खेल-खेल में ही बनाने-पालने और बिगाड़नेवाली, कहीं पुरुष-रूप से, तो कहीं स्त्री-रूप से और कहीं पशु-रूप से सम्पूर्ण संसार की आराध्या, इष्ट-देवी हैं।

श्रीगुरु-देव और श्रीगुरु-शक्तचम्बा––दो स्वरूप दिखाई देते हैं, किन्तु वास्तव में ये दोनों एक ही हैं। श्रीगुरु-चक्र में जब इस प्रकार श्रीगुरु-देव–श्रीगुरु-शक्तचम्बा के स्पष्ट दिव्य-दर्शन भाग्यवान् साधक को हो जाते हैं, जो नित्य अभ्यास एवं श्रीगुरु-कृपा से ही हो पाते हैं, तो साधक तत्काल कृत-कृत्य हो जाता है। संसार की सम्पूर्ण क्षुद्र सिद्धियाँ, अष्ट-महा-सिद्धियाँ और परम सिद्धि (मोक्ष) उसके पैरों में लोटने लगती हैं।

पादुका के मन्त्र-जप-सहित श्रीगुरु-ध्यान-योग

श्रीगुरु-ध्यान हेतु उपर्युक्त प्रकार से सम्पूर्ण 'श्रीगुरु-चक्र' का क्रम-पूर्वक सिलसिले से दर्शन करे। पुनः श्रीगुरु-चक्र को ध्यान में रखते हुए श्रीगुरु-पादुका-मन्त्र का जप करे–

१ "ऐं"––मन में इस वीज का उच्चारण करते हुए श्रीगुरु-देव के बगल में वाग्भव-बीज 'ऐं' के स्वरूप को देखे।

२. "ह्रीं"––मन में यह बीज उच्चारण करते हुए श्रीगुरु-देव के ऊपर 'ह्रीं' के स्वरूप का दर्शन करे।

३. "श्रीं"––मन में यह बीज बोलते हुए श्रीगुरु-शक्तयम्बा (श्रीगुरु-शक्ति अम्बा) के दर्शन करे।

४. 'ह्-स्-ख्-फ्रें'––श्रीगुरु-देव की कटि (कमर) से ऊपर के अङ्ग को देखते हुए मन-ही-मन में इस वीज का उच्चारण करे।

५. 'ह्-स्-क्ष्-म्-ल्-व्-र्-यूँ'––श्रीगुरु-देव के कटि के नीचे श्रीचरणों तक के शरीर को देखते हुए इस बीज का उच्चारण मन में करे।

६. 'स्-ह्-ख्-फ्रें'—श्रीगुरु-शक्तयम्बा माँ की कटि से ऊपर के अङ्ग को देखते हुये मन में इस बीज का उच्चारण करे।

७. स्-ह्-क्ष्-म्-ल्-व्-र्-यीं'––श्रीगुरु-शक्तयम्बा माँ की कटि से नीचे श्रीचरणों तक शरीर को देखते हुए मन में इस बीज का उच्चारण करे।

८. 'हंसः'––श्रीगुरु-पीठ हंस को देखते हुए मन में उच्चारण करे।

९. 'सोऽहं'––हंस के नीचे नाद को देखते हुए मन में उच्चारण करे।

१०. 'स्हौः'––नाद के नीचे बिन्दु को देखते हुए मन में उच्चारण करे।

११. 'स्हौः'––सहस्र-दल पद्म (हजार पंखुड़ी के कमल) को देखते हुए मन में इस बीज का उच्चारण करे।

१२. 'श्रीगुरु-शक्तयम्बा-सहित श्री-श्रीनाथ-देव-श्रीपादुकां'––श्रीगुरु - शक्तयम्बा एवं श्रीगुरु-देव के दर्शन कर 'हंस' को देखते हुए मन में उक्त मन्त्र का उच्चारण करे तथा मन-ही-मन प्रणाम करते हुए, मन में ही 'पूजयामि तर्पयामि नमः' का उच्चारण करे। यहाँ यह स्मरण रक्खे कि प्रणाम करने में सिर नहीं हिलना है।

यह एक बार हुआ। इसी प्रकार जितनी बार जप कर सके, करे। कम-से-कम तीन, पाँच, सात, नौ या ग्यारह बार तो करना ही चाहिए, किन्तु पहले दिन जितनी बार करे, उतनी ही बार प्रति-दिन करना होगा। इस क्रिया के बाद 'योनि-मुद्रा' से श्रीगुरु-देव के दाहिने हाथ में भावना-पूर्वक 'जप-समर्पण' कर देना चाहिए।

प्रातःकाल में श्रीगुरु-चक्र का ध्यान

प्रातः-काल ब्राह्म-मुहूर्त्त में जगकर 'श्रीगुरु-चक्र' का ध्यान उपर्युक्त विधि से करना चाहिए। विशेष बात यह है कि पूर्वोक्त क्रम से ध्यान करने के बाद श्रीगुरु-देव व श्रीगुरु-शक्त्यम्बा के दर्शन कर, उनके श्री-चरणों में ध्यान ले जाए। भावना करे कि उनके चरणों के नख प्रकाश से दमक रहे हैं। नखों से प्रकाश की एक उज्ज्वल श्वेत धारा-सी निकल रही है।

फिर, श्री-चरणों के नखों से प्रकाश की धारा निकल कर, मेरे शरीर की रग-रग में हजारों धारा बनकर, शरीर के भीतरी भाग को प्रकाश से सराबोर कर रही है—ऐसी भावना करे। पुनः यह भावना करे कि वह प्रकाश शरीर में समा नहीं पा रहा है, वह शरीर के रोम-रोम से प्रवाहित होकर बाहर निकला आ रहा है।

'मेरा बाह्य शरीर इस बाहर निकलते हुए प्रकाश में घुल-मिल गया है। मैं प्रकाश के एक पुञ्ज-जैसा हो गया हूँ।'—ऐसी भावना करनी चाहिए।

चारों सन्ध्याओं में श्रीगुरु-देव का ध्यान-योग

श्रीगुरु-चक्र के उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि—'कुण्डलिनी' महा-शक्ति श्री-गुरु-शक्त्यम्बा का ही रूप है। चारों सन्ध्याओं में इस महा-शक्ति को मूलाधार, मणिपुर से जगाकर श्रीगुरु-देव के वामाङ्ग में ले जाना ही साधना की अन्तिम सीढ़ी है।

'मूलाधार-चक्र' में काम-वीज 'क्लीं' अवस्थित है, जो स्वयम्भू-लिङ्ग का आधार है अर्थात् जिस पर स्वयम्भू-लिङ्ग प्रतिष्ठित है, वह अग्नि-रूप है।

'प्राण'-वायु (नाक से हम जो साँस लेते हैं) और 'अपान'-वायु (गुदा में रहने-वाली वायु) जब 'मूलाधार-चक्र' में कुम्भक द्वारा भावना-पूर्वक मिलाई जाती हैं, तो इनके वेग से 'क्लीं' बीज में निहित कामाग्नि भड़क उठती है। इस अग्नि से तप-कर मूलाधार में सोई हुई 'कुण्डलिनी' महा-शक्ति जगकर ऐसे सीधी हो जाती है, जैसे डण्डे से प्रताड़ित नागिन कुण्डली छोड़कर झटके से सीधी हो जाती है।

'मणिपुर-चक्र' (नाभि) में भी इसी प्रकार कुण्डलिनी के स्फुरण को देखने का अभ्यास किया जाता है। पूर्ण अभ्यास-क्रम इस प्रकार है—

१. 'प्राण'-वायु को खींच कर भावना द्वारा मूलाधार-चक्र में ले जाय।

२. इस समय ठोढ़ी को छाती से लगाकर, गले की सब नाड़ियों के मुँह बन्द कर 'जालन्धर-बन्ध' लगाए।

३. साथ ही पेट को भीतर खींचकर, पीठ से उसे सटाकर 'उड्डियान बन्ध' लगाए और 'गुदा' को ऊपर की ओर संकुचित कर 'मूल-बन्ध' लगाए।
४. तब मूलाधार-चक्र में चतुर्दल के बीच 'क्लीं'-बीज से अग्नि की उठती हुई लपटें देखे।
५. फिर 'कुण्डलिनी' को सीधी रेखा के समान, 'सुषुम्णा' में सीधे ऊपर चढ़कर, 'श्रीगुरु-चक्र' में उसका पहुँचना देखे और श्री गुरु-शक्तचम्बा माँ के रूप में बदलकर उसे श्रीगुरुदेव के वाम-अङ्ग में विराजती हुई देखे।

अन्त में श्वास बाहर निकालते हुए, उसे वापिस नीचे आती हुई 'कुण्डलिनी' के आकार में 'स्वयम्भू-लिङ्ग' से लिपटती हुई देखे। श्वास बाहर निकालते समय, जालन्धर-बन्ध, उड्डियान-बन्ध और मूल-बन्ध—तीनों को धीरे-धीरे खोलता जाए। यह ध्यान रहे कि श्वास एकदम झटके से बाहर न निकले।

ऐसा करने के लिए पहले बाँएँ स्वर से 'प्राण'-वायु को खींचना चाहिए। उसे मूलाधार में रोककर क्रम-संख्या २, ३, ४, ५ के अनुसार देखना चाहिए। फिर दाहिने स्वर से धीरे-धीरे श्वास छोड़नी चाहिए। इसके बाद दाहिने स्वर से साँस खींचे और पूर्वोक्त विधि से सब काम करके बाँयें से उसे बाहर निकाले। तीसरी बार पुनः बाँयें से श्वास खींचे और सब काम करके दाहिने से उसे निकाले।

ऐसा ६ बार करके, थोड़ा विश्राम करे। इस ध्यान में जो पसीना आये, उसे शरीर में ही रगड़ लेना चाहिए। पसीना योग का तेज है।

६ बार मूलाधार-चक्र में ध्यान करने के बाद, ६ बार मणिपुर-चक्र में ध्यान करे—

१. 'प्राण'–वायु को खींच कर भावना द्वारा मणिपुर-चक्र में ले जाय।
२. पहले की तरह जालन्धर-बन्ध, उड्डियान-बन्ध और मूल-बन्ध लगाए।
३. तब मणिपुर-चक्र में दश-दल के बीच एक त्रिकोण के मध्य 'रं'-बीज से अग्नि की उठती हुई लपटें देखे। कुण्डलिनी (जो यहाँ पाँच फेरे देकर सुप्तावस्था में है) का जगना देखे। फिर सीधे गुरु-चक्र में पहुँचकर श्रीगुरु-शक्तचम्बा के रूप में उसे बदलते हुए देखे। अन्त में श्वास निकालते हुए मूल-बन्ध खोलते हुए देखे कि वह फिर वापिस नीचे उतर कर, मणिपुर में उसी त्रिकोण के मध्य में 'रं' बीज पर पाँच घेरों में कुण्डली मारकर लेट गई है।

(१)

गुप्तावतार बाबाश्री की कृपा से प्राप्त श्रीविश्वसार-तन्त्र में उद्धृत दुर्लभ
(पूज्य बाबाश्री के अनन्य भक्त स्व० हरकिशन ल० झवेरी द्वारा सङ्कलित)

ऊर्ध्वाम्नायोक्त सिद्ध वीरौघ-गुरु-कवचं

।। गुरु-ध्यानम् ।।

ध्यायेच्छिरसि शुक्लाब्जे, द्वि - नेत्रं द्वि - भुजं गुरुम् ।
श्वेताम्बर - परीधानं, श्वेत - माल्यानुलेपनम् ।।१
वराभय - करं शान्तं, करुणा - मय - विग्रहम् ।
वामेनोत्पल - धारिण्या, शक्त्यालिङ्गित - विग्रहम् ।।२
स्मेराननं सु - प्रसन्नं, साधकाभीष्ट - सिद्धिदम् ।

।। कवच-स्तोत्रम् ।।

पर - नाथादि - नाथश्च, ब्रह्म - रन्ध्रे सहस्रके ।
दिव्य - चक्रे च मे पातु, सर्व - विश्वेश्वरेश्वरः ।।१
श्रीनाथः पातु शिरसि, सिद्धि - दले तु श्रीपतिः ।
वाग् - देवी दुर्ग - नाथश्च, दुर्गा दुर्गति - नाशिनी ।।२
षोडशारे सदा पातु, कण्ठ - देशे स्वरे तथा ।
ईश्वरो भैरवी - नाथो, कालमीशान - भैरवः ।।३
द्वादशारे च मे पातु, वीर - भद्रो कालान्त - कृत् ।
दशारे नाभि - देशे च, रुरु - नाथश्च भैरवः ।।४
परात्पर - गुरुर्देवो, चक्र - नाथो सदाऽवतु ।
षड् - दले काम - नेत्रे च, काम - देवो सदाऽवतु ।।५
मत्स्येन्द्रो मत्स्य - नाथश्च, रक्षतु चाण्ड - कोषके ।
गोरक्षश्च[१] वेद - पद्मे, आधारे पातु मे सदा ।।६
चतुरारे भर्तृहरिः गुरुर्मे सर्व - चक्रके ।
शीर्षादौ गुद - पर्यन्तं, पातु नाथो गुरुश्च मे ।।७
पादादि - शीर्ष - पर्यन्तं, विश्व - नाथो विभुर्गुरुः ।
इष्टो इष्ट - पतिर्नाथो, विश्व-सृक् पातु मे सदा ।।८

१.—गोरक्षनाथः ।

फा० ३

हिन्दी ऊर्ध्वाम्नायोक्त श्रीगुरु-कवच

पहले श्रीगुरुदेव का ध्यान करे। यथा—

अपने शिर के श्वेत कमल (सहस्रार पद्म) में दो हाथ, दो नेत्रवाले, श्वेत वस्त्र पहने, श्वेत ही पुष्प-माला और चन्दन धारण किए श्रीगुरुदेव विराजमान हैं। अपने हाथों से 'वर' और 'अभय' देते हुए वे शान्त स्वरूप हैं, उनके सारे शरीर से दया-भाव प्रकट हो रहा है। उनकी शक्ति (श्रीगुरु-पत्नी) हाथ में कमल-पुष्प लिये उनकी बाईं ओर बैठी हुई उनके शरीर का आलिङ्गन किए हुए हैं। श्री गुरुदेव के मुख पर मुस्कान है, वे अति प्रसन्न हैं और साधकों को वांछित सिद्धि प्रदान करने को उद्यत हैं।

उक्त प्रकार श्री गुरुदेव का ध्यान कर उनका मानसिक पूजन करे। तब श्रीगुरुदेव से सम्बन्धित 'कवच-स्तोत्र' का पाठ करे। यथा—

ब्रह्म-रन्ध्र में स्थित सहस्र-दल-पद्म के दिव्य चक्र में समस्त विश्वों के स्वामी पर-नाथ एवं आदि-नाथ मेरी रक्षा करें ॥१

श्री-नाथ शिर में और श्री-पति सिद्धि-दल में रक्षा करें। वाग्-देवी, दुर्ग-नाथ और दुर्गति-नाशिनी दुर्गा सदा कण्ठ-स्थान के षोडशार-चक्र में और स्वर में तथा ईश्वर, भैरवी-नाथ, नाथ, ईशान भैरव काल की रक्षा करें ॥२-३

द्वादशार-चक्र में कालान्त-कृत वीर-भद्र और नाभि-स्थान में रुरु-नाथ भैरव मेरी रक्षा करें ॥४

चक्र-नाथ परात्पर गुरुदेव सदा रक्षा करें। षड्-दल चक्र में और काम-नेत्रों में सदा काम-देव रक्षा करें ॥५

अण्ड-कोषों में मत्स्य-नाथ मत्स्येन्द्र रक्षा करें। गोरक्षनाथ मूलाधार के चतुर्दल-चक्र में सदा रक्षा करें ॥६

चतुर्दल चक्र में और सिर से लेकर गुदा तक के सभी चक्रों में मेरे गुरुदेव श्री भर्तृहरिनाथ मेरी रक्षा करें ॥७

पैरों से सिर तक विश्व-नाथ विभु, इष्ट-देव, इष्ट-पति, विश्व-सृक्, गुरु-नाथ सदा मेरी रक्षा करें ॥८

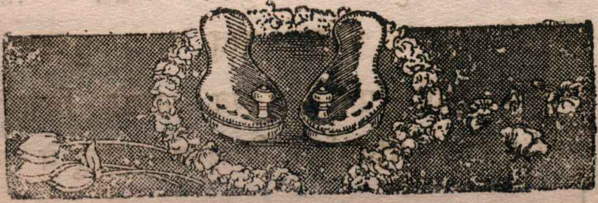

पुरश्चरण-रसोल्लासे ईश्वर-देवी-सम्वादे

श्रीगुरु-कवचं

पूर्व-पीठिका

।। श्रीईश्वर उवाच ।।

श्रृणु देवि ! प्रवक्ष्यामि, गुह्याद्-गुह्य-तरं महत् ।
लोकोपकारकं प्रश्नं, न केनापि कृतं पुरा ।।
अद्य प्रभृति कस्यापि, न ख्यातं कवचं मया ।
देशिकाः बहवः सन्ति, मन्त्र - साधन - तत्पराः ।।
न तेषां जायते सिद्धिः, मन्त्रैर्वा चक्र - पूजनैः ।
गुरोर्विधानं कवचमज्ञात्वा क्रियते जपः ।
वृथाश्रमो भवेत् तस्य, न सिद्धिर्मन्त्र - पूजनैः ।।
गुरु-पादं पुरस्कृत्य, प्राप्यते कवचं शुभम् ।
तदा मन्त्रस्य यन्त्रस्य, सिद्धिर्भवति तत्-क्षणात् ।
सु-गोप्यं तु प्रजप्तव्यं, न वक्तव्यं वरानने ।।

।। सविधि श्रीगुरु-कवच-स्तोत्रम् ।।

विनियोगः—ॐ नमोऽस्य श्रीगुरु-कवच-नाम-मन्त्रस्य परम-ब्रह्म ऋषिः, सर्व-वेदानुज्ञो देव-देवो श्रीआदि-शिवः देवता, नमो ह्सौं हंसः ह-स-क्ष-म-ल-व-र-यूं सोऽहं हंसः बीजं, स-ह-क्ष-म-ल-व-र-यीं शक्तिः, हंसः सोऽहं कीलकं, समस्त-श्रीगुरु-मण्डल - प्रीत्यर्थे जपे विनियोगः ।

ऋष्यादि-न्यासः—श्रीपरम-ब्रह्मर्षये नमः शिरसि । सर्व-वेदानुज्ञ-देव-देव श्रीआदि-शिव-देवतायै नमः हृदि । नमः ह्सौं हंसः ह-स-क्ष-म-ल-व-र-यूं सोऽहं हंसः बीजाय नमः गुह्ये । स-ह-क्ष-म-ल-व-र-यीं शक्तये नमः नाभौ । हंसः सोऽहं कीलकाय नमः पादयोः । समस्त-श्रीगुरु-मण्डल-प्रीत्यर्थे जपे विनियोगाय नमः अञ्जलौ ।

षडङ्ग-न्यास	कर-न्यास	अङ्ग-न्यास
ह्सां	अंगुष्ठाभ्यां नमः	हृदयाय नमः
ह्सीं	तर्जनीभ्यां नमः	शिरसे स्वाहा
ह्सूं	मध्यमाभ्यां नमः	शिखायै वषट्
ह्सैं	अनामिकाभ्यां नमः	कवचाय हुं
ह्सौं	कनिष्ठाभ्यां नमः	नेत्र-त्रयाय वौषट्
ह्सः	करतल-करपृष्ठाभ्यां नमः	अस्त्राय फट्

ध्यान--

श्रीसिद्ध-मानव-मुखा गुरवः स्वरूपं, संसार-दाह-शमनं द्वि-भुजं त्रि-नेत्रम् ।
वामाङ्ग-शक्ति-सकलाभरणैर्विभूषं, ध्यायेज्जपेत् सकल-सिद्धि-फल-प्रदं च ।।

मानस-पूजन--

लं पृथिव्यात्मकं गन्ध-तन्मात्र-प्रकृत्यात्मकं गन्धं स-शक्तिकाय श्रीगुरवे समर्पयामि नमः,
हं आकाशात्मकं शब्द-तन्मात्र-प्रकृत्यात्मकं पुष्पं स-शक्तिकाय श्रीगुरवे समर्पयामि नमः,
यं वाय्वात्मकं स्पर्श-तन्मात्र-प्रकृत्यात्मकं धूपं स-शक्तिकाय श्रीगुरवे घ्रापयामि नमः,
रं वह्न्यात्मकं रूप-तन्मात्र-प्रकृत्यात्मकं दीपं स-शक्तिकाय श्रीगुरवे समर्पयामि नमः,
वं अमृतात्मकं रस-तन्मात्र-प्रकृत्यात्मकं नैवेद्यं स-शक्तिकाय श्रीगुरवे समर्पयामि नमः,
सं सर्वात्मिकां ताम्बूलादि-सर्वोपचार-पूजां स-शक्तिकाय श्रीगुरवे समर्पयामि नमः ।

।। कवच-स्तोत्रम् ।।

ॐ नमः प्रकाशानन्द-नाथः तु, शिखायां पातु मे सदा ।
पर-शिवानन्द-नाथः, शिरो मे रक्षयेत् सदा ।।१
पर-शक्ति-दिव्या-नन्द-नाथो भाले च रक्षतु ।
कामेश्वरानन्द-नाथो, मुखं रक्षतु सर्व-धृक् ।।२
दिव्यौघो मस्तकं देवि ! पातु सर्व-शिरः सदा ।
कण्ठादि-नाभि-पर्यन्तं, सिद्धौघा गुरवः प्रिये ।।३
भोगानन्द-नाथ गुरुः, पातु दक्षिण-बाहुकम् ।
समयानन्द-नाथश्च, सन्ततं हृदयेऽवतु ।।४
सहजानन्द-नाथश्च, कटिं नाभिं च रक्षतु ।
एष स्थानेषु सिद्धौघाः, रक्षन्तु गुरवः सदा ।।५
अधरे मानवौघाश्च, गुरवः कुल-नायिके !
गगनानन्द-नाथश्च, गुल्फयोः पातु सर्वदा ।।६
नीलौघानन्द-नाथश्च, रक्षयेत् पाद-पृष्ठतः ।
स्वात्मानन्द-नाथ-गुरुः, पादांगुलीश्च रक्षतु ।।७
कन्दोलानन्द-नाथश्च, रक्षेत् पाद-तले सदा ।
इत्येवं मानवौघाश्च, न्यसेन्नाभ्यादि-पादयोः ।।८
गुरुर्मे रक्षयेदुर्व्यां, सलिले परमो गुरुः ।
परापर-गुरुर्वह्नौ, रक्षयेत् शिव-वल्लभे ।।९

परमेष्ठी - गुरुश्चैव, रक्षयेत् वायु - मण्डले ।
शिवादि - गुरवः साक्षात्, आकाशे रक्षयेत् सदा ।।१०
इन्द्रो गुरुः पातु पूर्वे, आग्नेयां गुरुरग्नयः ।
दक्षे यमो गुरुः पातु, नैऋत्यां निर्ऋतिर्गुरुः ।।११
वरुणो गुरुः पश्चिमे, वायव्यां मारुतो गुरुः ।
उत्तरे धनदः पातु, ऐशान्यामीश्वरो गुरुः ।।१२
ऊर्ध्वं पातु गुरुर्ब्रह्मा, अनन्तो गुरुरप्यधः ।
एवं दश - दिशः पान्तु, इन्द्रादि - गुरवः क्रमात् ।।१३
शिरसः पाद - पर्यन्तं, पान्तु दिव्यौघ - सिद्धयः ।
मानवौघाश्च गुरवो, व्यापकं पान्तु सर्वदा ।।१४
सर्वत्र गुरु - रूपेण, संरक्षेत् साधकोत्तमम् ।
आत्मानं गुरु - रूपं च, ध्यायेन् मन्त्रं सदा बुधः ।।१५

फल-श्रुतिः

इत्येवं गुरु - कवचं, ब्रह्म - लोकेऽपि दुर्लभम् ।
तव प्रीत्या मया ख्यातं, न कस्य कथितं प्रिये ।।१
पूजा - काले पठेद् यस्तु, जप - काले विशेषतः ।
त्रैलोक्य - दुर्लभं देवि ! भुक्ति - मुक्ति - फल-प्रदम् ।।२
सर्व - मन्त्र - फलं तस्य, सर्व - यन्त्र - फलं तथा ।
सर्व - तीर्थ - फलं देवि ! यः पठेत् कवचं गुरोः ।।३
अष्ट - गन्धेन भूर्जे च, लिख्यते चक्र - संयुतम् ।
कवचं गुरु - पङ्क्तेस्तु, भक्त्या च शुभ - वासरे ।।४
पूजयेत् धूप - दीपाद्यैः, सुधाभिः सित - संयुतैः ।
तर्पयेत् गुरु - मन्त्रेण, साधकः शुद्ध - चेतसा ।।५
धारयेत् कवचं देवि ! इह भूत - भयापहम् ।
पठेन्मन्त्री त्रिकालं हि, स मुक्तो भव-बन्धनात् ।
एवं कवचं परमं, दिव्य - सिद्धौघ - कलावान् ।।६

हिन्दी श्रीगुरु-कवच

॥ पूर्व-पीठिका ॥

श्री ईश्वर बोले— हे देवि ! संसार के लिए कल्याणकारी प्रश्न तुमने पूछा है, जिसे पहले किसी ने नहीं पूछा । अत्यन्त गोप्य से भी गोपनीय उसे मैं कहूँगा । यह 'कवच' आज तक मैंने किसी से नहीं कहा है । मन्त्र-साधना में बहुत से साधक तत्पर रहते हैं किन्तु उन्हें मन्त्रों या चक्र-पूजनों के द्वारा सिद्धि नहीं मिलती । गुरु के विधान-रूप कवच को बिना जाने जो जप करता है, उसका परिश्रम व्यर्थ होता है । मन्त्र और पूजनों से सिद्धि नहीं मिलती । गुरु-चरणों को आगे कर कल्याणकारी कवच को जब साधक प्राप्त करता है, तब उसे मन्त्र और यन्त्र की सिद्धि मिल जाती है । हे सुमुखि ! अत्यन्त गोपनीय भाव से इसका जप करना चाहिए, किसी से बताना नहीं चाहिए ।

॥ विधि-सहित श्रीगुरु-कवच-स्तोत्र ॥

पृष्ठ १६–२० में प्रकाशित विनियोग, ऋष्यादि-न्यास, कर-न्यास और अङ्ग-न्यास कर ध्यान करे—

मानवीय मुखवाले सिद्ध-गुरुओं का स्वरूप द्वि-भुज और द्वि-नेत्र है, जो संसार के दुःखों को शान्त करता है । समस्त अलङ्कारों से सज्जित शक्ति द्वारा उस स्वरूप का बाँयाँ अङ्ग सुशोभित है । ऐसे स्वरूप का ध्यान कर जप करने से वह सभी सिद्धियों का फल प्रदान करता है ।

इस प्रकार ध्यान कर पृष्ठ २० पर उल्लिखित मानस पूजन कर कवच-स्तोत्र का पाठ करे—

॥ कवच-स्तोत्र ॥

ॐ नमस्कार । प्रकाशानन्दनाथ सदा मेरी शिखा की रक्षा करें, पर-शिवानन्दनाथ मेरे शिर की सदा रक्षा करें ।।१।। पर-शक्ति-दिव्यानन्दनाथ भाल (कपाल) की रक्षा करें और सबको धारण करने-वाले कामेश्वरानन्दनाथ मुख की रक्षा करें ।।२।। हे देवि ! दिव्यौघ मस्तक और सारे शिर की रक्षा करें । हे प्रिये ! सिद्धौघ गुरु कण्ठ से लेकर नाभि तक रक्षा करें ।।३।। भोगानन्दनाथ गुरु दाईं भुजा की रक्षा करें और समयानन्दनाथ निरन्तर हृदय की रक्षा करें ।।४।। सहजानन्दनाथ कटि (कमर) और नाभि की रक्षा करें । इन स्थानों में सिद्धौघ गुरु सदा रक्षा करें ।।५।। हे कुल-नायिके ! अधर में मानवौघ गुरु और दोनों गुल्फों (घुटनों) में गगनानन्दनाथ सदा रक्षा करें ।।६।। नीलौघानन्दनाथ पैर के पिछले भाग की रक्षा करें और स्वात्मानन्दनाथ गुरु पैर की अँगुलियों की रक्षा करें ।।७।। कन्दोलानन्द-नाथ सदा पैर के तलवों की रक्षा करें । इस प्रकार मानवौघ गुरुओं का न्यास (स्थापन) नाभि से पैरों तक करे ।।८।। पृथ्वी पर मेरे गुरु रक्षा करें, जल में परम गुरु और हे शिव-प्रिये ! अग्नि में परापर गुरु रक्षा करें ।।९।। वायु-मण्डल में परमेष्ठी-गुरु रक्षा करें और साक्षात् शिवादि गुरु सदा आकाश में रक्षा करें ।।१०।।

गुरु इन्द्र पूर्व में रक्षा करें, आग्नेय-कोण में गुरु अग्नियाँ, दाईं ओर गुरु यम और नैर्ऋत-कोण में निर्ऋति रक्षा करें ।११। पश्चिम में गुरुण वरुण (जल-देव), वायव्य कोण में गुरु मारुत (पवन देव), उत्तर में धनद (कुबेर) और ऐशान कोण में गुरु ईश्वर रक्षा करें ।।१२।। ऊपर गुरु ब्रह्मा और नीचे गुरु अनन्त रक्षा करें । इस प्रकार दसों दिशाओं की रक्षा क्रमशः इन्द्रादि गुरु करें ।।१३।। शिर से पैर तक दिव्यौघ की सिद्धियाँ रक्षा करें और मानवौघ गुरु सदैव व्यापक रूप से रक्षा करें ।।१४।। सभी स्थानों में गुरु-रूप से उत्तम साधक की रक्षा करें । बुद्धिमान् साधक को सदैव आत्मा को और मन्त्र को गुरु-रूप में ध्यान करना चाहिए ।।१५।। (शेष पृष्ठ २४ पर)

(२)

ब्रह्म-यामले नारद-ब्रह्म-सम्वादे

श्रीमद्-गुरु-कवचम्

।। नारद उवाच ।।

ब्रह्मन् ! गुरोर्मनु - स्तोत्रं, यथावदवधारितम् ।
कवच - श्रवणे श्रद्धा, साम्प्रतं कथ्यतां मम ।।१

।। ब्रह्मोवाच ।।

श्रीगुरोः कवचं गुह्यं, वर्ण्यमानं निबोध मे ।
नाभक्ताय प्रदातव्यं, देयं भक्ति - मते सदा ।।२

विनियोग—ॐ अस्य श्रीगुरु-कवचस्य श्री ब्रह्मा ऋषिः, अनुष्टुप् छन्दः, त्रि-देवात्मा अमुक-नाम-श्रीगुरुः देवता, अमुक-नाम-श्रीगुरुदेव-प्रीतये पाठे विनियोगः ।֍

ऋष्यादि-न्यासः—श्रीब्रह्मर्षये नमः शिरसि । अनुष्टुप्-छन्दसे नमः मुखे । त्रि - देवात्मा अमुक-नाम-श्रीगुरुदेवाय नमः हृदि । अमुक-नाम-श्रीगुरुदेव-प्रीतये पाठे विनियोगाय नमः अञ्जलौ ।

।। कवच-स्तोत्रम् ।।

ॐ शिरो मे सर्वदा पातु, गुरुः सर्वाङ्ग - सुन्दरः ।
उद्यद्-भाल - ललाटं मे, कृपा - दृष्टिर्दृशौ मम ।।१
मन्द-स्मितो मुखं पातु, श्रुती च मधुरं वचः ।
हृदयं पातु मन्त्रोक्तिर्वराभय - धरः करौ ।।२
गुरु - पद्मासनं पातु, नाभ्यादि - चरणान्तिकम् ।
गुरु - पाद - नख - ज्योत्स्ना, सर्वाङ्गं सर्वदाऽवतु ।।३
वाग्-बीजं मे सदा पातु, कामाद्यन्तांश्च खेचरी ।
आनन्द-भैरवः पातु, सदैवानन्द - मन्दिरम् ।।४
आनन्द - भैरवी पातु, ममानन्दं सदैव सा ।
हिंस्रेभ्यः सर्वदा पातु, श्रीप्रासाद - परो मनुः ।।५
परा-प्रासाद - मन्त्रस्तु, पातु नित्यं विपद् - दशाम् ।
हंसः पीठं पातु चोर्ध्वं, सर्व - दिक्षु सदाऽवतु ।।६
कुलं तु गुरवः पान्तु, पात्वधः कमलासनः ।

֍ श्रीगुरोः कवचस्यास्य, ब्रह्मर्षिः परिकीर्तितः ।
छन्दोऽनुष्टुप् देवता च, त्रि-देवात्मा गुरुः स्वयम् ।।

ज्ञानं पातु च दिव्यौघा, इच्छां सिद्धौघ - संज्ञकः ।
मानवौघाः क्रियां पान्तु, श्रीगुरुः सर्वदाऽवतु ।।७

फल-श्रुति

ॐ इतीदं कवचं नित्यं, प्रातः - कृत्यावसानके ।
यः पठेन् मानवो भक्त्या, त्रैलोक्य - विजयी भवेत् ।।१
मन्त्र - सिद्धिर्भवेत् तस्य, देवता च प्रसीदति ।
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं, नात्र कार्या विचारणा ।।२
गुर्वभिधानं कवचमज्ञात्वा क्रियते जपः ।
वृथा श्रमो भवेत् तस्य, न सिद्धिर्मन्त्र - पूजने ।।३
गुरु - पादं पुरस्कृत्य, कवचं पठ्यते शुभम् ।
तदा मन्त्रस्य यन्त्रस्य, सिद्धिर्भवति नान्यथा ।।४
गुरु-गोप्यं च कर्त्तव्यं, न वक्तव्यं कदाचन ।
यस्मै कस्मै न दातव्यं, न प्रकाश्यं कदाचन ।।५
दातव्यं भक्ति - युक्ताय, कुलीनाय विशेषतः ।
त्रैलोक्य - दुर्लभं चैतद्, भुक्ति-मुक्ति - फल-प्रदम् ।।६
सर्व-तीर्थ - फलं येन, पठ्यते कवचं गुरोः ।
इति ते कथितं पुत्र ! सावधानोऽवधारय ।।७

(पृष्ठ २२ का शेषांश)

।। फल-श्रुति ।।

यह 'गुरु कवच' ब्रह्म-लोक में भी दुर्लभ है। तुम्हारे प्रेम से मैंने इसे कहा है। हे प्रिये! अन्य किसी से नहीं कहा है ।।१।। पूजा के समय में, विशेष कर अप करते समय, हे देवि! तीनों लोकों में दुलभ यह कवच भोग और मोक्ष-रूपी फल प्रदान करता है ।।२।। हे देवि! जो गुरु के 'कवच' का पाठ करताहै, उसे सभी मन्त्रों का, सभी यन्त्रों का और सभी तीर्थों का पूरा फल प्राप्त होता है ।।३।। किसी शुभ दिन में, भोज-पत्र पर, अष्ट-गन्ध से चक्र के सहित कवच को भक्ति-पूर्वक लिखे और धूप-दीपादि से उसकी पूजा कर गुरु-मन्त्र द्वारा मिश्री-युक्त सुधा द्वारा साधक पवित्र मन से तर्पण करे। फिर उसे धारण करे, तो हे देवि! इस संसार में वह भूत-भय को दूर करता है। मन्त्र-साधक तीनों कालों (प्रातः, मध्याह्न, सायं) में कवच का पाठ करे, तो वह संसार के बन्धन से छूट जाता है। इस प्रकार यह श्रेष्ठ 'कवच' दिव्य-सिद्धौघों की कला से समन्वित है ।।४-६।।

हिन्दी श्रीमद्-गुरु-कवच

॥ पूर्व-पीठिका ॥

श्री नारद बोले—हे ब्रह्मन् ! गुरु-मन्त्र के स्तोत्र को यथा-विधि समझ लिया है। अब कवच सुनने की मेरी श्रद्धा है, उसे कहिए।

श्री ब्रह्मा ने कहा—श्रीगुरु का गोपनीय कवच कहता हूँ, मुझसे सुनो। भक्ति-हीन को इसे नहीं देना चाहिए, सदैव भक्ति-युक्त को ही यह देने योग्य है।

॥ सविधि श्रीमद्-गुरु-कवच-स्तोत्र ॥

पहले पृष्ठ २३ के अनुसार विनियोग और ऋष्यादि-न्यास कर लें, तब कवच-स्तोत्र का पाठ करें। यथा—

सर्वाङ्ग-सुन्दर गुरुदेव सदैव मेरे शिर, भाल और ललाट की रक्षा करें तथा उनकी कृपा-दृष्टि मेरे दोनों नेत्रों की रक्षा करे ॥१

गुरुदेव की मन्द मुस्कान मेरे मुख की और उनकी मधुर वाणी मेरे कानों की रक्षा करे। उनके मन्त्रात्मक वचन मेरे हृदय की और उनके वर-अभय धारण करनेवाले कर-कमल मेरे हाथों की रक्षा करें ॥२

गुरुदेव का पद्मासन मेरी नाभि से चरणों तक के शरीर की रक्षा करे और गुरुदेव के चरणों की नख-चन्द्रिका सदैव मेरे सारे अङ्गों की रक्षा करे ॥३

वाग्-बीज (ऐं) सदा कामादि से खेचरी तक मेरी रक्षा करे। आनन्द-भैरव मेरे आनन्द-मन्दिर की रक्षा करें ॥४

आनन्द-भैरवी सदा ही मेरे आनन्द की रक्षा करें और श्रीप्रासाद-परा मन्त्र सदैव हिंसक प्राणियों से मेरी रक्षा करे ॥५

श्री परा-प्रासाद मन्त्र प्रति-दिन विपत्ति की दशा से मेरी रक्षा करे। हंस-पीठ ऊर्ध्व प्रदेश में और सभी दिशाओं में सदा मेरी रक्षा करे ॥६

गुरु लोग मेरे कुल की रक्षा करें, कमलासन अधो प्रदेश में मेरी रक्षा करे। दिव्यौघ गुरु मेरे ज्ञान की, सिद्धौघ नामक गुरु मेरी इच्छा की तथा मानवौघ गुरु मेरी क्रिया की रक्षा करें, श्री गुरुदेव सदैव मेरी रक्षा करें ॥७

॥ फल-श्रुति ॥

इस 'कवच' को जो मनुष्य भक्ति-पूर्वक प्रतिदिन प्रातःकृत्य के अन्त में पढ़ता है, वह तीनों लोकों में विजयी होता है ॥१॥ उसे मन्त्र की सिद्धि मिलती है और देवता उस पर प्रसन्न होता है। यह सत्य है, सत्य है, बारम्बार सत्य है, इसमें कुछ भी विचार करने की बात नहीं है ॥२॥ गुरु-नामक 'कवच' को जाने बिना जो जप करता है, उसका परिश्रम व्यर्थ होता है। उसे मन्त्र-पूजन में सिद्धि नहीं मिलती ॥३॥ गुरु-चरणों को आगे करके कल्याणकारी कवच का पाठ किया जाता है। तब मन्त्र-यन्त्र की सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं ॥४॥ गुरु को गोपनीय रखना चाहिए, कभी उनको प्रकट नहीं करना चाहिए। जिस किसी को 'गुरु-कवच' न देना चाहिए और न ही उसे प्रकाशित करना चाहिए ॥५॥ भक्ति से युक्त, विशेषकर कुलीन व्यक्ति को ही, तीनों लोकों में दुर्लभ, भोग-मोक्ष को फल-रूप में देनेवाले इस 'कवच-स्तोत्र' को देना चाहिए ॥६॥ गुरुदेव के इस कवच को जो पढ़ता है, उसे सभी तीर्थ-स्थानों का फल मिल जाता है। तुमसे यह सब कहा है, सावधानी से इसे हृदयङ्गम करो ॥७॥

कङ्काल-मालिनी-तन्त्रे ईश्वर-देवी-सम्वादे

श्रीगुरु-कवचम्

॥ पूर्व-पीठिका ॥

॥ श्रीदेव्युवाच ॥

भूत - नाथ ! महा - देव ! कवचं तस्य मे वद ।
गुरु-देवस्य देवेश ! साक्षात् ब्रह्म - स्वरूपिणः ॥१

॥ श्री ईश्वर उवाच ॥

अथ ते कथयामीशे ! कवचं मोक्ष - दायकम् ।
यस्य ज्ञानं विना देवि ! न सिद्धिर्न च सद्-गतिः ॥२
ब्रह्मादयोऽपि गिरिजे ! सर्वत्र जयिनः स्मृताः ।
अस्य प्रसादात् सकला, वेदागम - पुरःसराः ॥३

॥ सविधि श्रीगुरु-कवचम् ॥

विनियोगः—ॐ अस्य श्रीगुरु-कवचस्य श्रीविष्णुः ऋषिः, विराट्-छन्दः, गुरुदेव स्वयं शिवः देवता, चतुर्वर्गे ज्ञान-मार्गे पाठे विनियोगः ।

ऋष्यादि-न्यासः—श्रीविष्णु-ऋषये नमः शिरसि । विराट्-छन्दसे नमः मुखे । गुरुदेव-स्वयं-शिव-देवतायै नमः हृदि । चतुर्वर्गे ज्ञान-मार्गे पाठे विनियोगाय नमः अञ्जलौ ।

सहस्रारे महा - पद्मे, कर्पूर - धवलो गुरुः ।
वामोरु - स्थित[१] -शक्तिर्यः सर्वत्र[२] परि - रक्षतु ॥१
परमाख्यो गुरुः पातु, शिरसं मम वल्लभे !
परा-पराख्यो नासां मे, परमेष्ठी[३] मुखं सदा ॥२
कण्ठं मम सदा पातु, भैरवानन्द - नाथकः[४] ।
बाहौ[५] द्वौ सनकानन्दः, कुमारानन्द एव च[६] ॥३
वशिष्ठानन्द - नाथश्च, हृदयं पातु सर्वदा ।
क्रोधानन्दः कटिं पातु, सुखानन्दः पदं मम ॥४
ध्यानानन्दश्च सर्वाङ्गं, बोधानन्दश्च कानने ।
सर्वत्र गुरवः पान्तु, सर्वे ईश्वर - रूपिणः ॥५

॥ फल-श्रुति ॥

इति ते कथितं भद्रे ! कवचं परमं शिवे !
भक्ति - हीने दुराचारे, दद्यान्मृत्युमवाप्नुयात् ॥१

अस्यैव पठनाद् देवि ! धारणात् श्रवणात् प्रिये !
जायते मन्त्र-सिद्धिश्च ७ किमन्यत् कथयामि ते ।।२
कण्ठे वा दक्षिणे बाहौ, शिखायां वीर - वन्दिते ।
धारणान्नाशयेत् पापं, गङ्गायां कल्मषं८ यथा ।।३
इदं कवचमज्ञात्वा, यदि मन्त्रं जपेत् प्रिये !
तत् सर्वं निष्फलं कृत्वा, गुरुर्याति सुनिश्चितम् ।
शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता, गुरौ रुष्टौ न कश्चन ।।४

पाठान्तर—[1] गत, [2] सर्वतः, [3] परमेष्ठिः, [4] प्रह्लादानन्द-नाथकः, [5] बाहू, [6] नाथकः, [7] मन्त्राः सिद्धाश्च जायते, [8] कलुषं ।

हिन्दी श्रीगुरु-कवच

श्री देवी बोलीं—हे भूत-नाथ, महादेव, देवेश्वर ! साक्षात् ब्रह्म-स्वरूप उन गुरुदेव का कव मुझसे कहिए ।।१।।

श्री ईश्वर ने कहा—हे देवि, ईश्वरि ! अब मैं तुमसे मोक्ष-प्रद कवच को कहता हूँ, जिसे ज बिना न सिद्धि मिलती है और न सद्-गति ।। २ ।। हे गिरिजे ! इसके प्रसाद से ही समस्त तन्त्र-शास्त्र क आगे रखनेवाले ब्रह्मा आदि भी सभी स्थानों में विजयी माने जाते हैं ।।३।।

।। सविधि श्रीगुरु-कवच ।।

पहले पृष्ठ २६ के अनुसार विनियोग एवं ऋष्यादि-न्यास करे । तब कवच-स्तोत्र का पाठ करे

सहस्रार के महान् पद्म में कपूर के समान उज्ज्वल वर्णवाले गुरुदेव, जिनकी जाँघ से सटीं उनक शक्ति (धर्म-पत्नी) विराजमाना हैं, सभी स्थानों में मेरी रक्षा करें ।। १ ।। हे प्रिये ! 'परम' नामक मेरे सिर की, 'परापर' नामक मेरी नासिका की और 'परमेष्ठी' मेरे मुख की सदा रक्षा करें ।। २ ।। भैरवानन्दनाथ मेरे कण्ठ की और सनकानन्दनाथ तथा कुमारानन्दनाथ मेरी दोनों भुजाओं की सद रक्षा करें ।। ३ ।। वशिष्ठानन्दनाथ सदैव मेरे हृदय की रक्षा करें और क्रोधानन्दनाथ मेरी कटि (कमर) की तथा सुखानन्दनाथ मेरे पैरों की रक्षा करें ।। ४ ।। ध्यानानन्दनाथ मेरे सारे शरीर की, बोधानन्दनाथ वन-उपवन में, और ईश्वर-स्वरूप सभी गुरु समस्त स्थानों में मेरी रक्षा करें ।। ५ ।।

।। फल-श्रुति ।।

हे भद्रे, शिवे ! यह श्रेष्ठ 'कवच' कहा है । भक्ति-हीन, दुराचारी व्यक्ति को इसे बताने से मृत्यु हो जाती है ।।१।। हे प्रिये, देवि ! इसका पाठ या श्रवण करने से या इसे धारण करने से मन्त्र सिद्ध होते हैं । और तुमसे क्या कहूँ ? ।।२ ।। हे वीर-वन्दिते ! कण्ठ में, दाईं भुजा में या शिखा में इसे रखने से यह पापों को उसी प्रकार नष्ट करता है, जैसे गङ्गा में पातक नष्ट हो जाते हैं ।।३।। हे प्रिये ! इस कवच को जाने बिना यदि कोई मन्त्र का जप करता है, तो वह व्यर्थ होता है और गुरुदेव उसे त्यागकर चले जाते हैं, यह सर्वथा निश्चित है । शिव के रुष्ट होने पर गुरुदेव रक्षा करते हैं, किन्तु गुरु के रुष्ट होने पर कोई रक्षा नहीं करता ।।४।।

(२)

ब्रह्म-यामले पार्वती-ईश्वर-सम्वादे

समस्त-मंगलं नाम स्त्री-गुरु-कवचम्

।। पूर्व-पीठिका ।।

।। श्रीदेव्युवाच ।।

इदानीं स्त्री-गुरोः तु, कवचं मयि कथ्यताम् ।
यस्य विज्ञान-मात्रेण, पुनर्जन्म न विद्यते ।।

।। श्री शिव उवाच ।।

स्त्री-गुरोश्चापि देवेशि ! कवचं श्रृणु सादरम् ।
यस्य श्रवण-मात्रेण, वागीश-समतां व्रजेत् ।।

।। सविधि समस्त-मङ्गल नाम स्त्री-गुरु-कवचम् ।।

विनियोगः—ॐ अस्य स्त्री-गुरोः कवचस्य श्री सदा-शिव ऋषिः, अमुक-नामा स्त्री-गुरुः देवता, अमुक-नामा स्त्री-गुरु-देवता-प्रीतये विनियोगः । ❋

ऋष्यादि-न्यासः—श्रीसदा-शिव-ऋषये नमः शिरसि । अमुक-नामा-स्त्री-गुरु-देवतायै नमः हृदि । अमुक-नामा-स्त्री-गुरु-देवता-प्रीतये पाठे विनियोगाय नमः अञ्जलौ ।

।। ईश्वर उवाच ।।

ॐ क्लीं बीजं मे शिरः पातु, तदाख्या च[१] ललाटकम् ।
क्लीं बीजं चक्षुषोः पातु, सर्वाङ्गं मे सदा-शिवः[२] ।।१
ऐं बीजं मे मुखं पातु, ह्रीं जिह्वां[३] परि - रक्षतु ।
श्रीं - बीजं स्कन्ध - देशं मे, ह्सखफ्रें[४] भुज - द्वयम् ।।२
ह - कारः कण्ठ - देशं मे, स - कारः षोडशं दलम् ।
क्ष - वर्णस्तदधः पातु, ल - कारो हृदयं मम[५] ।।३
व - कारः पृष्ठ - देशं च, र - कारो[६] दक्ष-पार्श्वकम् ।
यूङ्कारो[७] वाम-पार्श्वं[८] च, सकारो[९] मेरुमेव च ।।४
हकारो मे दक्ष - भुजं, क्षकारो वाम - हस्तकम् । ❋
मकारश्चांगुलिं[१०] पातु, लकारः पातु मे नखम्[११] ।।५
वकारो[१२] मे नितम्बं च, रकारो[१३] जठरं मम ।
यीङ्कारः[१४] पाद - युगलं, ह्सौः सर्वाङ्गकेऽवतु[१५] ।।६

❋ स्त्री-गुरोः कवचस्य सदा-शिव ऋषिः स्मृतः ।
तदाख्या देवता प्रोक्ता, चतुर्वर्ग-फल-प्रदा ।।

ह्सौर्लिङ्गं च लोमानि,[१६] केशं च परि - रक्षतु ।
ऐं बीजं पातु पूर्वे मे,[१७] ह्लीं बीजं दक्षिणेऽवतु ।।७
श्रीं बीजं पश्चिमे पातु, उत्तरे भूत- सम्भवम् ।
ऐं[१८] पातु चाग्नि-कोणे च, वेदाद्या[१९] नैर्ऋतेऽवतु ।।८
देव्यम्बा पातु वायव्यां, शम्भोः श्रीपादुकां तथा ।
पूजयामि तथा चोर्ध्वं, नमश्चाधः सदाऽवतु ॐ ।।९

॥ फल-श्रुति ॥

इति ते कथितं, कान्ते ! कवचं परमाद्भुतम् ।
गुरु-मन्त्रं जपित्वा तु, कवचं प्रपठेद् यदि ।
स सिद्धः स गणः सोऽपि, शिवः साक्षान्न संशयः ।।१
पूजा-काले पठेद् यस्तु, कवचं मन्त्र - विग्रहम् ।
पूजा-फलं भवेत् तस्य, सत्यं सत्यं सुरेश्वरि !
त्रि-सन्ध्यं यः पठेद् देवि ! स सिद्धो नात्र संशयः ।।२
भूर्जे विलिख्य गुटिकां, स्वर्णस्थां धारयेद् यदि ।
तस्य दर्शन-मात्रेण, वादिनो निष्प्रभां गताः ।।३
विवादे जयमाप्नोति, रणे च नैर्ऋतेरिव[२०] ।
सभायां जयमाप्नोति, मम तुल्यो न संशयः ।।४
सहस्रारे भावयन् यः,[२१] त्रि-सन्ध्यं प्रपठेद् यदि ।
स एव सिद्ध[२२] - लोकेशो, निर्वाण - पदमीयते[२३] ।।५
समस्त - मङ्गलं नाम, कवचं परमाद्भुतम् ।
यस्मै कस्मै न दातव्यं, न प्रकाश्यं कदाचन ।।६
देयं शिष्याय शान्ताय, चान्यथा विफलं[२४] भवेत् ।
अभक्तेभ्यस्तु[२५] देवेशि ! पुत्रेभ्योऽपि न दर्शयेत् ।।७
इदं कवचमज्ञात्वा दश-विद्यां च यो जपेत्[२६] ।
स नाप्नोति फलं तस्य, परे च नरकं व्रजेत् ।।८

ऊपर प्रकाशित 'स्त्री-गुरु-कवच' बृहत् तन्त्रसार से उद्धृत है । 'मातृका-भेद तन्त्र' में भी यह कवच दिया है । उसके अनुसार अनेक पाठान्तर हैं ।

पाठान्तर निम्न प्रकार हैं—

पाठान्तर–१ तदाख्यातं, २ सदाऽवतु, ३ जङ्घां, ४ वाग्भवं मे,
५ हकारं मे दक्ष-भुजं, क्षकारं वाम-हस्तकम् ।
क्षसणौं तदधः पातु, लकारं हृदयं मम ॥३
६ रकारं, ७ जूं-कारं, ८ तु, ९ सकारं
卐 यह पंक्ति 'मातृका-भेद तन्त्र' में नहीं है ।
१० मकारं चांगुलीः, ११ लकारं मे नखोपरि, १२ वकारं, १३ रकारं, १४ यीःकारः, १५ सर्वाङ्ग-मेव तु, १६ लोमं च, १७ तु, १८ श्रीं, १९ तदाख्या, २० निऋतिरिव, २१ भावयस्तां, २२ सिद्धो, २३ पदमीहते, २४ पतनं, २५ अभक्तेभ्योऽपि, २६ विद्यां चैव च यो जपेत्

विज्ञ साधकों को इस विशिष्ट 'कवच' के शोधन के प्रति ध्यान देना चाहिए । इस सम्बन्ध में प्रामाणिक सूचना मिलने पर उसे सादर 'कौल-कल्पतरु' चण्डी में प्रकाशित किया जायगा ।

हिन्दी समस्त-मंगल नामक स्त्री-गुरु-कवच

॥ पूर्व-पीठिका ॥

श्री देवी बोलीं––अब मुझसे स्त्री-गुरु का कवच कहिए, जिसके जानने मात्र से पुनर्जन्म नहीं होता ।

श्री शिव ने कहा––हे देवेशि ! आदर के साथ स्त्री-गुरु-कवच को सुनो, जिसके सुनने मात्र से सुननेवाला वागीश्वर के समान हो जाता है ।

॥ सविधि समस्त-मङ्गल नामक स्त्री-गुरु-कवच ॥

पहले पृष्ठ २८ पर दिये विनियोग और ऋष्यादि-न्यास को करें । तब कवच का पाठ करें–

'क्लीं' बीज मेरे शिर की और उनका नाम मेरे ललाट की रक्षा करे । 'क्लीं' बीज दोनों नेत्रों की और सदा-शिव मेरे सारे शरीर की रक्षा करें ॥१॥

'ऐं' बीज मेरे मुख की रक्षा करे । 'ह्रीं' मेरी जीभ की रक्षा करे । 'श्रीं' बीज मेरे कन्धों की और 'हसखफ्रें' मेरी दोनों भुजाओं की रक्षा करे ॥२॥

'ह' मेरे कण्ठ-स्थान की, 'स' षोडश-दल-चक्र की, 'क्ष' नीचे के भाग की और 'ल' मेरे हृदय की रक्षा करे ॥३॥

'व' पीठ की, 'र' दाएँ पार्श्व (बगल) की, 'यूं' बाएँ पार्श्व की और 'स' मेरु (?) की रक्षा करे ॥ ४

'ह' दाईं भुजा की, 'क्ष' बाएँ हाथ की, 'म' अँगुलियों की और 'ल' मेरे नाखूनों की रक्षा करे ॥५

'व' मेरे नितम्ब की, 'र' मेरे पेट की, ईं दोनों पैरों की, 'ह्सौः' सभी अङ्गों की रक्षा करे ॥६

'ह्सौः' लिङ्ग और लोमों तथा केश की रक्षा करे । 'ऐं' बीज पूर्व में मेरी रक्षा करे । 'ह्रीं' बीज दक्षिण में रक्षा करे ॥७

(शेष पृष्ठ ३१ के नीचे)

कवच-पाठ के बाद स्तुति द्वारा श्रीगुरुदेव को प्रणाम करे—

श्रीगुरु-प्रणाम स्तुतिः

अखण्ड-मण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्, तत् पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।१
अज्ञान-तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जन-शलाकया, चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।२
देवतायाः दर्शनं च करुणा-वरुणालयम्, सर्व-सिद्धि-प्रदातारं, श्रीगुरुं प्रणमाम्यहम् ।।३
वराभय-करं नित्यं श्वेत-पद्म-निवासिनम्, महा-भय - निहन्तारं गुरुदेवं नमाम्यहम् ।।४
महा-ज्ञानाच्छादिताङ्गं नराकारं वर-प्रदम्, चतुर्वर्ग-प्रदातारं स्थूल-सूक्ष्म-दयान्वितम् ।।५
सदानन्द-मयं देवं नित्याञ्जन-निरञ्जनं, शुद्ध-सत्त्व-मयं देवं नित्य-कालं कुलेश्वरम् ।।६
ब्रह्म-रन्ध्रे महा-पद्मे तेजो-बिम्बे निराकुले, योगिभिर्योग-गम्ये च चारु-शुक्र-विराजिते ।।७

(पृष्ठ ३० का शेषांश)

'श्रीं' बीज पश्चिम में, उत्तर में भूत-सम्भव रक्षा करे । 'ऐं' अग्नि-कोण में और वेदाद्य (ॐ) नैऋत-कोण में रक्षा करे ।।८

देव्यम्बा वायव्य कोण में, श्री शम्भु श्रीपादुका की रक्षा करें । 'पूजयामि' शब्द ऊर्ध्व-भाग की और 'नमः' सदा अधो भाग की रक्षा करे ।।९

।। फल-श्रुति ।।

हे कान्ते ! इस प्रकार परम विलक्षण 'कवच' तुमसे कहा गया । गुरु-मन्त्र का जप कर यदि 'कवच' का पाठ करे, तो वह साधक 'सिद्ध' होता है, देवी का 'गण' होता है और वही साक्षात् 'शिव'-स्वरूप होता है, इसमें सन्देह नहीं ।।१

हे महेश्वरि ! जो पूजा के समय मन्त्रात्मक 'कवच' का पाठ करता है, उसे पूजा का पूरा फल मिलता है, यह सर्वथा सत्य है ।।२

भोज-पत्र में लिखकर, उसकी गुटिका बनाकर स्वर्ण में स्थापित कर यदि इसे धारण करे, तो धारण करनेवाले के दर्शन मात्र से विरोधी हत-प्रभ हो जाते हैं ।।३

विवाद में, युद्ध में और सभा में वह नैऋत्य के समान विजय पाता है और मेरे समान प्रतापी होता है, इसमें सन्देह नहीं ।।४

जो सहस्रार में भावना करते हुए, तीनों सन्ध्या-कालों में इसका पाठ करता है, वह सिद्ध लोकेश होकर निर्वाण-पद को प्राप्त करता है ।।५

'समस्त-मङ्गल' नामक यह 'कवच' अत्यन्त विलक्षण है । जिस किसी को इसे न देना चाहिए, कभी इसे प्रकट न करना चाहिए ।।६

शान्त शिष्य को ही इसे देना चाहिए, अन्यथा यह निष्फल हो जाता है । हे देवेशि ! पुत्रों को भी, यदि वे भक्ति-हीन हों, तो इसे नहीं दिखाना चाहिए ।।७

इस 'कवच' को जाने बिना जो दश महा-विद्याओं के मन्त्र का जप करता है, वह उस जप का फल नहीं पाता और अन्त में नरक को जाता है ।।८

सहस्त्र-दल-सङ्काशे कर्णिका-मध्य-मध्यके, महा-शुक्ल-भास्वरार्क-कोटि-कोटी-महौजसम् ।।८
सर्व-पीठस्थममलं पर-हंसं परात्परम्, वेदोद्धार-करं नित्यं काम्य - कर्म-फल-प्रदम् ।।९
सदा मनः-शक्ति-मयं लय-स्थान-पदाम्बुजं, शरज्ज्योत्स्ना-ज्वलन्नात्मा शोभेन्दु-कोटि-वन्मुखं ।१०
वांछातिरिक्त-दातारं सर्व-सिद्धीश्वरं गुरुम्, भजामि तन्मयो भूत्वा तं हंस-मण्डलोपरि ।।११
आत्मानं सुनिराकारं साकार-ब्रह्म-रूपिणम्, विद्यान् मन्त्र-प्रदातारं श्रीगुरुं परमेश्वरम् ।
सर्व-सिद्धि-प्रदातारं गुरुदेवं नमाम्यहम् ।।१२
कायेन मनसा वाचा ये नमन्ति निरन्तरम्, अवश्यं श्रीगुरोश्चैव पदाम्भोजे वसन्ति हि ।।१३

हिन्दी श्रीगुरु-प्रणाम-स्तुति

एक-निष्ठ भक्ति के साथ इस स्तुति द्वारा श्रीगुरुदेव को प्रणाम करे। इससे 'आयु' और 'आरोग्य' की वृद्धि होती है—

अखण्ड-मण्डलाकार, चर और अचर, सारा जगत् जिन परा-शक्ति के द्वारा व्याप्त है, उनके गौरव का जो दर्शन कराते हैं, उन श्रीगुरुदेव को नमस्कार। अज्ञान-रूपी अँधेरे से अन्धे व्यक्ति की आँखों को जो ज्ञान-रूपी अञ्जन की शलाका से खोल देते हैं, उन श्री गुरुदेव को नमस्कार। देवता के दर्शन और सर्व-सिद्धियों के देनेवाले दया-सागर श्री गुरुदेव को मैं प्रणाम करता हूँ। सदैव वर और अभय से युक्त हाथोंवाले, श्वेत कमल पर विराजमान रहनेवाले और बड़े-से-बड़े भय को नष्ट करनेवाले श्री गुरुदेव को मैं नमस्कार करता हूँ ।।१-४

महान् ज्ञान से व्याप्त शरीरवाले, मनुष्याकार, वर-दाता, चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के देनेवाले, स्थूल और सूक्ष्म दया-भाव से समन्वित, सदा आनन्द-मय रहनेवाले देवता-स्वरूप, सदैव निर्विकार शिव-स्वरूप, शुद्ध-सत्त्व-गुण से परिपूर्ण देवता, नित्य-काल एवं कुलेश्वर-स्वरूप, सभी पीठों पर विराजमान निर्मल, परात्पर, वेदोद्धार-कर्ता, काम्य कर्मों के फल को देनेवाले परमहंस-स्वरूप, सदा मनोबल से परिपूर्ण, मोक्ष-स्थान पर चरण-कमलों को रखनेवाले, शरद्-कालीन चाँदनी-जैसी उज्ज्वल आत्मावाले, करोड़ों चन्द्रमाओं की शोभावाले मुख-मण्डल से युक्त, मनोकामना से भी अधिक देनेवाले, सभी सिद्धियों के स्वामी, अत्यन्त उज्ज्वल चमकीले करोड़ों सूर्यों जैसे महान् ओजवाले श्री गुरुदेव का भजन मैं उनमें तन्मय होकर योगियों द्वारा अपनी योग-विद्या से ज्ञात किये जानेवाले, सुन्दर वीर्य-युक्त सहस्त्र-दल-कमल की कर्णिका के मध्य में हंस-मण्डल के ऊपर करता हूँ ।। ५-११

आत्मा से निराकार और साकार ब्रह्म-रूपी, विद्याओं और मन्त्रों के देनेवाले, सभी सिद्धियों के प्रकृष्ट दाता, परमेश्वर श्री गुरुदेव को मैं नमस्कार करता हूँ ।।१२

फल-श्रुति

शरीर, मन और वाणी से जो सदैव इस प्रकार नमस्कार करते हैं, वे निश्चय ही श्रीगुरुदेव के चरण-कमलों में निवास करते हैं ।।१३

सम्पादकीय

'श्री गुरुदेव' को 'मन्त्र' और 'देवता' के केवल समकक्ष ही नहीं माना गया है, अपितु उनसे बढ़कर बताया गया है । फलतः मन्त्र-दीक्षा देनेवाले व्यक्ति शास्त्रों में पूजनीय कहे गये हैं । उनकी पूजा कैसे की जाय, इसकी विभिन्न विधियों का उल्लेख भी मिलता है । जिस प्रकार देवता की प्रतिमा या उनके 'यन्त्र-विग्रह' की पूजा का विधान है, उसी से मिलती-जुलती विधि 'गुरुदेव' के 'मानव-विग्रह' के लिए भी निर्दिष्ट है ।

इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण बात विचारणीय है । 'प्रतिमा' या 'यन्त्र-विग्रह' का पूजन करने में चाहे अल्प या अधिक, सामान्य या विशेष सामग्री का उपयोग हो और सच्ची श्रद्धा-भक्ति के साथ उनका पूजन किया जाय या नहीं, उसकी कोई प्रतिक्रिया अच्छी या बुरी देखने को तत्काल नहीं मिलती क्योंकि ये विग्रह प्रत्यक्षतः चेतन नहीं होते किन्तु गुरुदेव का 'मानव-विग्रह' जीता-जागता अपने सम्मुख होता है । पूजन-सामग्री और पूजन करते समय पूजा करनेवाले व्यक्ति की भावना का उस पर स्वभावतः प्रभाव पड़ता ही है और वह प्रभाव आराधक से छिपा भी नहीं रहता । अतः इस पूजन में विशेष सतर्कता की आवश्यकता है ।

त्यागी और निःस्पृह 'गुरुदेव' आडम्बर-युक्त पूजन के लिए प्रायः स्वीकृति नहीं देते । बुद्धि-वादी शिष्य भी वैसा पूजन करने के लिये उद्यत नहीं होते, किन्तु भक्ति-भावनावाले शिष्य 'श्रीगुरुदेव' के पूजन के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं । ऐसे शिष्यों को यदि सौभाग्य से 'सद्-गुरु' प्राप्त हैं, तब तो दोनों पक्षों का हित ही होता है किन्तु दुर्भाग्य से यदि वैसा नहीं हुआ, तो दोनों का अनिष्ट होता है । आशा है, इस बात को ध्यान में रखते हुये ही 'श्रीगुरु-साधना' के अन्तर्गत प्रकाशित साहित्य का मनन पाठक बन्धु करेंगे ।

'श्रीगुरु-साधना' का विषय बड़े विस्तार और दुरूहता के साथ आगम-शास्त्र में यत्र-तत्र वर्णित है । उसमें गहरे शोध की आवश्यकता है । हमने जो कुछ यहाँ प्रस्तुत किया है, उससे उस विषय की एक झलक मात्र मिलती है । यदि सम्भव हुआ, तो 'चण्डी' के आगामी अंकों में इसके रहस्य-मय पक्षों पर और भी प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायगा । प्रस्तुत 'श्रीगुरु-साधना' से पाठक बन्धुओं का यदि कुछ भी ज्ञान-वर्द्धन हो सका, तो हम अपने श्रम को सार्थक समझेंगे । अस्तु ।

रजि० सं० ३२६८१/५७]   जून-जुलाई, १६८६   [रजि. सं. ए. डी. ६६

सम्पादक की वाणी

अप्रैल, १६८६ से अपने शोधात्मक प्रकाशन के तीसरे वर्ष में—

काशी के पं० जगन्नारायण देव शर्मा 'पुष्कर·शास्त्री' :

बहुत रसीली, रङ्ग - रङ्गीली—'सम्पादक की वाणी'।
सुनकर जिसे, अहो ! प्रसन्न हों—सज्जन संयत प्राणी ।।

खीरी के श्री सतीशचन्द्र त्रिवेदी 'चन्द्र' :

ज्ञान-दीप्ति-पुञ्ज को प्रदीप्त किया 'वाणी' में,
ऐसे महा-मना शुक्ल को शत-शत प्रणाम है।
पितृ-प्रेम, मातृ-प्रेम, राष्ट्र-प्रेम रङ्ग भरे,
'सम्पादक की वाणी' का किया बहु नाम है।

प्रयाग के पं० कृष्णदत्त द्विवेदी 'द्विज-कृष्ण' :

देवीदत्त शुक्ल, देवी के भक्त, सफल सम्पादक।
सरस्वती के वरद पुत्र थे, सरस्वती - सम्पादक ।।
तदनुरूप हो हुए पुत्र हैं, रमादत्त विज्ञानी।
जिनको 'सम्पादक की वाणी' लाई नवीन रवानी ।।

बक्सर के श्री दुर्गाशङ्कर गुप्त :

'सम्पादक को वाणो' पढ़कर, हे देश-प्रेमियो ! अब जागो।
अपने पुरखों के भाव समझ, हिन्दो के गुण के रस में पागो ।।

- निर्धन बन्धुओं के लिए मात्र डाकव्यय-शुल्क १० वार्षिक,
- समर्थ साहित्य-प्रेमियों के लिए वार्षिक शुल्क ३६ रु० और—
- हिन्दी-हितैषी धनी-मानी महानुभावों के लिये वार्षिक अनुदान-शुल्क—

प्रतिपालक ५००रु०/सम्वर्द्धक ३०० रु०/ सम्पोषक २०० रु०/ संरक्षक १०० रु० / सहायक ५० रु०
स्वेच्छा से अभीष्ट वार्षिक शुल्क कृपया म० अ० बैंक/ड्राफ्ट द्वारा 'श्री रमादत्त शुक्ल' के नाम 'चण्डी कार्यालय, प्रयाग—२११००६' के पते से भेजें। नमूने की प्रति मुफ्त मंगाएँ।

मुद्रक, प्रकाशक, सम्पादक : ऋतशील शर्मा, एम. ए., पराबाणी प्रेस इलाहाबाद—६